अद्वैत बोध दीपिका

(THE LAMP OF NONDUAL KNOWLEDGE)

- **श्री करपात्र स्वामी जी महाराज** -

अनुवादक :- स्वामी सच्चिदानंद जी गिरी
श्री गुप्तानन्द आश्रम, विष्णुपुरी,
शमशान घाट, मन्दसौर मध्यप्रदेश

महर्षि रमण भगवान द्वारा प्रशंसित, शिफारिस की गई
पुस्तकों में से एक मुख्य कृति है

अंग्रेजी संस्करण का प्राप्ति स्थान
श्री रमणाश्रम - तिरुवन्नामलाय
तमिलनाडु – दक्षिण भारत

अद्वैत बोध दीपिका

स्वामी सच्चिदानंद जी गिरी

अद्वैत बोध दीपिका - श्री करपात्र स्वामी

-: विषय सूची :-

.

-: भूमिका :-

01. समस्त ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान सर्वोच्च परमात्मा, भंयकर आवागमन चक्र से छुड़ाने वाला परम साधन, शाश्वत सत्स्वरूप भावुक भक्तों के "गजमुखवदन गणपति" के चरणों में सविनय मैं प्रणाम करता हूँ।

02. अद्वैत चैतन्य स्वरूप मेरे परमाराध्य सद्गुरू "श्री चिदम्बर ब्रह्म" के पवित्र चरणों का ध्यान करता हूँ, जिनके किंचिन्मात्र कृपा कटाक्ष से मुझ मूढ़मति को, जो अनादि अज्ञानांधकार से अंधा हो रहा था, एक पलक की झलक में अमूल्य "सजगता" रूपी रत्न प्रदान कर दिये। वें स्वयं आनंदमूर्ति एवं सर्वोच्च योगी जो ठहरे।

03. उन दिव्य सद्गुरू जिनके चरण धुली से मुमुक्षुजन इस अनादि भवसागर को गोपद समान पार कर सकते है, उनकें पवित्र पदकमलों का मैं ध्यान करता हूँ।

04. अनेक जन्मों की तपस्या के फलस्वरूप जिनके पाप जल चुके है, जिनके मन शुद्ध, बुद्धि विवेकवती, जिनके चित्त इहपर भोगों के प्रति उदासीन है, जिनके मन-इन्द्रियाँ वश में है, संवेग के प्रति सचेत हैं, जिन्होनें सारे कर्मो को व्यर्थ, निरर्थक, बोझ समझकर फैंक दिये है, जिनकी श्रृद्धा दृढ़, मन शांत, बन्धन से मुक्त होने की प्रबल इच्छा वाले है, उनके हाथों में यह "अद्धैत बोध दीपिका" नामक ग्रन्थ सौंपा जाता है।

05. अद्वैत सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ, शंकराचार्य जी व विद्यारण्य जी जैसे महान् गुरूओं द्वारा रचा जा चुका है, पर सुहृदयजन इस ग्रन्थ को ऐसे विशाल हृदय से स्वीकारे जैसे ममतामय माता-पिता छोटे बच्चें की तोतली बोली को सुनकर खुश होते है।

अध्याय एक - अध्यारोप

एक परम जिज्ञासु शिष्य, तापत्रय से एवं भवबंधन से मुक्त होने की तीव्र, प्रबल इच्छा से, एक महान् सद्गुरू के चरणों में पहुँचता है। यह शिष्य दीर्घकाल तक साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति, मुमुक्षुता) से सम्पन्न होकर सदगुरू की खोज में था।

परम दयालु कृपा समुद्र सदगुरू के निकट पहुँचकर वह शिष्य हाथ जोडकर प्रणाम करके प्रार्थना करने लगाः-"हे भगवन, कृपालु दयासागर सद्गुरोः मैं आप के शरण में हूँ। कृपया मेरी रक्षा करे। त्राहिमाम्- पाहिमाम्।

सदगुरूः- तुम्हारी रक्षा किससे करूँ?

शिष्य:- इस आवागमन के चक्र व भवसागर में डूबने के भय से।

सदगुरूः- इस भवसागर रूपी संसार को त्याग दो, डरो मत।

शिष्य:- मैं अपने आप इस विशाल संसार सागर का पार नहीं पा सकता हूँ, न ही इस आवागमन चक्र से निकल पा रहा हूँ। अतः मैं आपकी शरणागत हूँ-चरणों में समर्पित हूँ-आप ही मुझ दीन को बचा सकते हैं।

सदगुरूः- मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?

शिष्य:- भगवन! बचाओ, मुझे रक्षा करो। मेरे लिए कहीं भी आश्रय नहीं है, आप के चरण कमलों के अतिरिक्त; जैसे जिस व्यक्ति के शरीर व बालों में आग लग गई हो तो केवल पानी ही उस ज्वाला को शांत कर सकता है, वैसे

ही आप सरीखे शीतल शांत स्वभाव वाले संत ही, त्रिताप की ज्वाला से झुलसते हुए मुझ जैसे व्यक्तियों का एक मात्र आश्रय, छत्रछाया हैं। आप तो इस संसार भ्रम से मुक्त हैं, शांत हैं एवं अनादि, अंनत, तुलनातीत, ब्रह्मानंद की गहराई में डुबे हुए है। निश्चय ही आप मुझ दीन गरीब प्राणी की रक्षा कर सकते है। कृपया दया करें।

सदगुरूः- तुम्हारे भ्रमपूर्ण तड़पन व कष्ट से मुझे क्या परवाह है ?

शिष्य:- जैसे पिता अपने पुत्र का कष्ट देखकर मुँह नहीं फेर सकता, वैसे ही आप जैसे दयालु संत दूसरों के कष्ट सहन नहीं कर सकते है। आपका प्रेम सर्व के प्रति निष्काम निःस्वार्थ है। सबके आप गुरू हैं। आप ही हम जैसे आर्त जिज्ञासु को इस संसार सागर से पार उतारने वाली नौका है।

सदगुरूः- अच्छा! ठीक है! किस लिए तुम कष्ट पा रहे हो? कौन तुम्हें तड़पा रहा है?

शिष्य:- दुःख पुर्ण संसारसर्प के डसने से, उसके जहर के कारण होश खो रहा हूँ एवं वर्णनातीत पीड़ा झेल रहा हूँ,- हे सदगुरो! कृपया इस ज्वालामुखी नरक से बचा लीजिए। इससे मुक्त होने का सरल, शीघ्र, कारगर उपाय व युक्ति बताएं।

सदगुरूः- शाबाश मेरे बेटे! बहुत अच्छा कहा है तुमने! तुम बुद्धिमान एवं आत्मनियंत्रण में पक्के हो। अब शिष्वत्व की अर्हता काबिलियत को प्रमाणित करने की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हारा वक्तव्य बता रहा है कि तुम इस ज्ञान के अधिकारी हो। अच्छा अब ध्यान देकर मेरी बातों पर गौर करो।

इस सच्चिदानंद चैतन्य स्वरूप में, कौन है जो आवागमन के चक्र में भ्रम रहा है ? यह संसार कहाँ पर, किस आधार पर खडा है ? वह कैसे उत्पन्न हो गया व किससे? अथवा अपने आपसे यह संसार कैसे व कहाँ से, किस बीज से जन्म लिया है?

तुम जो कि सत् व अद्वैत हो, कैसे बहक गए, भ्रम में पड़ गए ? सुषुप्ति में आनंदपूर्वक सोने के बाद, बिना किसी परिवर्तन के जग जाने पर भी, शांत गहरी निद्रा के बाद भी मूर्ख लोग सुबह उठकर चिल्लाते है कि मैं मारा गया, मैं फँस गया, मैं दुखी परेशान हूँ आदि! आश्चर्य है कि तुम, जो कि अपरिवर्तनीय, निराकार, आनंदपूर्ण आत्मा होकर कैसे आर्तनाद कर रहे हो कि मैं आता जाता हूँ-दुःखी हूँ-बंधन में हूँ आदि।

पुत्र, वास्तव में न मृत्यु है न जन्म, कोई भी न मरता है, न उत्पन्न होता है। यह सब बकवास, मिथ्या भाषण है।

शिष्य:- फिर यह सब क्या है ? यह अस्तित्व क्या है?

सदगुरूः- बस! केवल अनादी, अनंत, अद्वैत, सदामुक्त, बंधन के बोध से स्वतंत्र, शुद्ध, सजग, एक अद्वितीय, सत् चित आनंद ही है।

शिष्य:- तब कृपया बताएँ कि जैसे वर्षाकाल की बादलों से दिन में अंधेरा हो जाता है वैसे यह गाढा, बलवान् संसार भ्रम मेरी बुद्धि पर छा गया है कि मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ।

सद्गुरूः- इस माया की आवरण शक्ति का क्या वर्णन किया जाए। जैसे ठूंठ में चोर दिखता है, रज्जु में मन्द अंधकार में में सर्प दिखता है, वैसे ही अद्वैत, पूर्ण, शुद्ध चैतन्य को तुमने भ्रम से व्यक्ति समझ लिया है। बहक जाने के

कारण तुम कातर दुखी हो रहे हो । पर यह पूछो कि यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ? कारण क्या है ? “अज्ञान” के कारण, भ्रम से जैसे स्वप्न का मिथ्या संसार दिखता है, उसे सत्य मान लेना ही तो तुम्हारी भूल है।

शिष्य:- यह “अज्ञान” क्या है ?

सद्‌गुरू:- ध्यान से सुनो। इस शरीर के प्रति अधिकार या हक जताने वाला एक “मिथ्या मैं”, भूत के चिपट जाने के जैसे हावी होता है, जिसे “जीव” कहते है। मनदर्पण पर पड़ने वाला यह प्रतिबिम्ब “जीव” सर्वदा बर्हिदृष्टि का होता है। हमेशा इस दुनिया का वास्तविक, सत्य, ठोस, आकर्षक समझता है तथा स्वयं को कर्ता तथा सुख-दुख का भोक्ता समझता है। अनगिनत इच्छाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं एवं कल्पनाओं का अपने में पालन-पोषण करता रहता है। अविवेक से पूर्ण यह “जीव” ऐसा भागता-फिरता है कि एक बार भी अपने स्वरूप को याद नहीं करता है एवं यह प्रश्न नहीं करता है कि “मैं कौन हूँ? यह जगत क्या है?” इस विशाल संसार में अपने को न जानते हुए भटकता रहता है, पंच विषयों में रमता हुआ, सुखी-दुखी, पापी-पुण्यात्मा, स्वर्ग-नरक गामी मानता रहता है। इसप्रकार की आत्म विस्मृति को ही “अज्ञान” कहते है। यह बाहर दिखने वाला संसार भी अज्ञान के कारण सत्य दिख रहा है।

शिष्य:- समस्त शास्त्र घोषणा करते है कि यह संसार माया का करामात है, चमत्कार है, पर आप कह रहे है कि यह अज्ञान के कारण दिख रहा है, इन दोनों वक्तव्यों का एकमत कैसे हो सकता है?

सद्गुरूः- बेटा। इस अज्ञान के अनेक नाम है जैसे माया, अव्यक्त, अविद्या प्रधान, प्रकृति, तमोंधकार आदि। अतः यह संसार अज्ञान का ही परिणाम है।

शिष्य:- परन्तु यह माया या अज्ञान किस प्रकार इस संसार का प्रक्षेपण (**PROJECTION**) करता है?

सद्गुरूः- इस माया या अज्ञान की दो शक्तियाँ है, यथा आवरण एवं विक्षेप शक्ति। विक्षेप शक्ति को प्रक्षेपण भी कहते है। आवरण शक्ति दो प्रकार से कार्य करती है-पहला, यह धारणा उत्पन्न करना कि "आत्मा या ब्रह्म या चैतन्य है ही नहीं है।" दूसरा है यह भाव उत्पन्न करना कि "यदि आत्मा या चैतन्य है भी, वो मुझे पता नहीं पड़ रहा है। मैं नहीं जानता एवं जान सकता हूँ।"

शिष्य:- कृपया इसे विस्तार से समझा दें।

सद्गुरूः- जब कोई सद्गुरू शिष्य को बारम्बार दृष्टान्तपूर्वक समझाता है कि "एक ही अद्वैत चैतन्य है।" तब भी अज्ञानी शिष्य यही सोचता है कि "यह अद्वैत चैतन्य क्या हो सकता है? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है। अनादि आवरण शक्ति के कारण समझाने पर भी उस उपदेश की उपेक्षा की जाती है, अनादर होता है एवं पूर्व आग्रह, पूर्व धारणाएँ पुनः आवृत हो जाती है। इसप्रकार की उपेक्षापूर्ण प्रतिक्रिया को ही प्रथम आवरण शक्ति का प्रभाव समझो।

तत्पश्चात् जब शिष्य अनेक ग्रन्थों के अवलोकन एवं सहायता से तथा कृपासमुन्द्र सद्गुरूओं के उपदेश से पूर्णतः प्रमाणिक रूप से विश्वास

करता है कि “चैतन्य ही सत्य है” परन्तु अपने अन्दर झांक कर उस चैतन्य रूपी शुद्ध मैं को पकड़ नहीं पाता है, गहराई में उतर नहीं पाता है। पर सतह पर ही घूमते हुए, शब्दों के जाल में फंसकर सोचता है कि मुझे शुद्ध मैं या चैतन्य का पता नहीं पड़ रहा है।” इतना तो उसे ज्ञान है कि चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है, श्रृद्धा भी है, बारम्बार दोहराता भी है, प्रयत्न भी करता है परन्तु अज्ञानावरण यथावत् रहता है कि मुझे पता नहीं पड़ता है। इसी को द्वितीय आवरण शक्ति कहते है।

शिष्यः- अच्छा! यह तो समझ गया,पर विक्षेप या प्रक्षेपण शक्ति क्या चीज है ?

सद्गुरूः- यद्यपि यह बताया जाता है कि तू तो अपरिवर्तनीय, निराकार, आनंदमय, अद्वैत, परमात्मा स्वरूप आत्मा ही है, तब भी व्यक्ति यही सोचता है कि मैं हाथ, पैर, इन्द्रियों से युक्त शरीर ही हूँ, सभी कर्मो का कर्ता हूँ तथा सुख-दुःख प्रारब्ध भोगने वाला हूँ, एवं निरन्तर बर्हिदृष्टि के कारण इस, उस व्यक्ति को, इस, उस वस्तुओं को देखकर उन्हें सत्य मानकर भ्रमित, मोहित होता है। इसप्रकार अद्वैत चैतन्य रूपी पर्दे पर ब्रह्माण्ड जो कि मिथ्या एवं जादू सरीखे है, प्रक्षेपित होते हुए देखकर भ्रमित होता है। इसी को “अध्यारोप” भी कहते है।

शिष्यः- यह “अध्यारोप” क्या है? कृपया बताएँ।

सद्गुरूः- “अध्यारोप” का तात्पर्य यह कि जब किसी वस्तु को किसी अन्य वस्तु के रूप में समझना, जैसे रस्सी को सर्प समझना, जो कि है ही नहीं है, ठूंठ को चोर मानना या मरूस्थल के जल को वास्तविक जल मानना, सीपी को

चाँदी मानना आदि। जब किसी सत्य वस्तु पर मिथ्या वस्तु का थोपना या आरोप किया जाता है, उसे “अध्यारोप” कहते है।

शिष्य:- अच्छा! तो यहाँ पर किस वास्तविक आधार या अधिष्ठान पर मिथ्या या असत्य वस्तु का अध्यारोप हो रहा है?

सदगुरूः- यहाँ पर केवल अद्वैत सच्चिदानंद परब्रह्म ही सत्य एवं वास्तविक है। जैसे वास्तविक रस्सी पर सर्प का मिथ्या नाम एवं रूप थोपा जाता है, उसी प्रकार एक अद्वैत चैतन्य पर स्थावर-जंगम, सजीव-निर्जीव वस्तुओं को थोपा जा रहा है। अतः कुल मिलाकर जितने दृश्य नाम रूपात्मक ढ़ांचे इस दुनिया के रूप में दिख रहे है, इन्द्रियगम्य हो रहे है, उन्हें चैतन्य पर्दे पर अध्यारोपित कह सकते है। इसी को संसार का मिथ्या प्रक्षेपण कहते है।

शिष्य:- अहो! इस अद्वैत चैतन्य पर अध्यारोप करने वाला कौन है?

सदगुरूः- माया के अतिरिक्त और कौन है?

शिष्य:- यह माया क्या है?

सदगुरूः- ब्रह्म संबंधी अज्ञान को ही माया कहते है।

शिष्य:- कृपया बताएं यह ब्रह्म संबंधी अज्ञान क्या है?

सदगुरूः- यद्यपि “व्यक्ति” स्वयं ब्रह्म ही है तथापि यह नहीं जानता की मैं “ब्रह्म ही हूँ”-जो इसप्रकार के ज्ञान में बाधा या अवरोध के रूप में खड़ा है, जो अपने को ब्रह्म जानने से रोकता है, वही ब्रह्म संबंधी अज्ञान है।

शिष्य:- यह अज्ञान किस प्रकार इस जगत का प्रक्षेपण करता है?

सदगुरूः- सरल है-जैसे अधिष्ठान या आधार को नहीं जानने से रस्सी पर सर्प का भ्रम होता है, ऐसे ही अपने "शुद्ध मैं" को, जो कि ब्रह्म ही है, न जानने से वह अज्ञान इस रंग बिरंगी दुनिया को प्रक्षेपित कर प्रस्तुत करता है।

जैसे रस्सी पर सर्प का भासना मिथ्या भ्रम है क्योंकि पूर्ण उजाले में भ्रम नाश होता है, यदि पूर्व में देखने की स्मृति रहती है, तब भी भ्रम नहीं होता है अर्थात् भ्रम के पूर्व तथा पश्चात् रस्सी ही रहती है, भ्रमकाल में ही सर्प दिखता है। अतः इसे अध्यारोपित भ्रांति ही कह सकते हैं। इसीप्रकार यह संसार इन्द्रियगम्य होने से पूर्व (सुषुप्ति में) नहीं रहता है, तथा ज्ञानोदय पश्चात् संसार ब्रह्ममय हो जाता है, तब भी नहीं रहता है, यह संसार अतः यही कह सकते है कि भ्रमकाल में यह सत्य जैसे नजर आता है। अध्यारोपित भ्रांति इसी को कहते है।

शिष्य:- परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि सुषुप्ति में एवं ज्ञानोदय पश्चात् यह दुनिया नहीं रहती है?

सदगुरूः- यह बताओ कि रस्सी पर सर्प भ्रम कब और कैसे पैदा हुआ? मरीचिका की सृष्टि किसने कब, कैसे की? ठूंठ में चोर कब पैदा हुआ? यदि कहते हो कि संसार की सृष्टि हुई है तो पहले नहीं था, प्रलय होने पर नहीं रहेगा, आपके स्वप्न देखने से पूर्व स्वप्न सृष्टि-स्वप्न प्रंपच कहाँ थी, स्वप्न समाप्ति पर कहाँ चली गई? केवल मध्य के अंतराल में मिथ्या ही दिख रहा था। जब सुषुप्ति, समाधि, बेहोशी में यह दुनिया गायब हो जाती है, जो ज्ञान पश्चात् इन्द्रियों से ग्रहण होने पर भी मिथ्या हों जाती है, वह दुनिया मध्यांतर में कब सत्य हो सकती है? अतः अभी भी यह भ्रम एवं अध्यारोप ही है।

शिष्य:- फिर सृष्टि के पूर्व एवं प्रलय के बाद यदि दुनिया नहीं रहती है तो क्या शेष रहता है?

सदगुरू:- केवल वही रहता है जो अधिष्ठान अस्तित्व, सत्, अद्वैत, भ्रमातीत, अखण्ड, अविभाजित, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य, चैतन्य, आनंद, अपरिवर्तनीय ब्रह्म ही शेष रहता है।

शिष्य:- यह कैसे पता लगता है?

सदगुरू:- वेद वाक्य है कि "सृष्टि से पूर्व केवल चैतन्य ही था" योग वाशिष्ठ भी इसे समझाने में सहायक है।

शिष्य:- कैसे?

सदगुरू:- योग वाशिष्ठ का कथन है कि "दुनिया के विघटन के पश्चात् सब आकाश स्वरूप होकर एक चैतन्य सत्य में समा जाता है। चैतन्य निस्तब्ध मन-वाक से परे, अंधेरे उजाले से अतीत, पूर्ण, वर्णनातीत स्थिति में रहता है जो कि शून्य सरीखे दिखने पर भी पूर्ण है।"

शिष्य:- इस प्रकार के अद्वैत चैतन्य जिसमें कोई हल-चल नहीं है, उससे यह संसार कैसे उत्पन्न हो जाता है?

सदगुरू:- चैतन्य की छुपी हुई शक्ति जो कि ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न है जिसे माया या अविधा कहते हैं, जिसके गर्भ में असंख्य नाम रूप छिपे है, ब्रह्म की ऐद्रंजालिक जादू शक्ति है, जो कि पूर्णतः चैतन्य पर निर्भर है, पर चैतन्य असंग व स्वतंत्र है, माया से निर्लेप है। इस माया की आवरण एवं विक्षेप नामक शक्तियाँ है। आवरण से चैतन्य को ढ़कती है तथा विक्षेप शक्ति से "मन" के रूप

में खड़ी होती है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब की सहायता से “मन” या “माया” क्रियाशील बनकर अपने गर्भ में छिपे संस्कारों से दुनिया का प्रक्षेपण करके खेलने लगती है। स्वयं सब नाम रूपात्मक दृश्य होते हुए भी अपना-पराया बनाकर क्रीडा करती है। जैसे रस्सी रूपी वास्तविक अधिष्ठान को छुपाकर, ढककर सर्प भ्रम हावी हो जाता है, वैसे ही माया वास्तविक चैतन्य को ढककर संसार भ्रम दिखाती है।

शिष्य:- इससे पूर्व किसी और ने इस प्रकार कथन किया है?

सदगुरू:- हाँ, अवश्य, राम के प्रति वशिष्ठ जी ने इसप्रकार का उपदेश किया था।

शिष्य:- कैसे वर्णन किया था?

सदगुरू:- ब्रह्म चैतन्य की शक्ति असीमित है। उन शक्तियों का प्रकट रूप इस प्रकार है-जीवन्त प्राणीयों में सजीवता या जीवनी शक्ति वायु में स्पंदन; पृथ्वी की कठोरता; जल की तरलता; अग्नि की ज्वलनशीलता; आकाश की शून्यता; नाशवान वस्तुओं में सडने की प्रक्रिया; इनके अतिरिक्त अन्य कई शक्तियाँ जो प्रसिद्ध है। ये शक्तियाँ पहले अप्रकट रहकर बाद में प्रकट हो जाती है। जिस प्रकार मयूर के अण्डे के अंदर के रस में मयूर पंख के रंग बिरंगी सुदंर वर्ण प्रच्छन्न, छिपे हुए रहते है या विशाल पीपल के वृक्ष के छोटे से बीज में वृहद् वृक्ष छिपा रहता है, उसी प्रकार अद्वैत परब्रह्म में उपर्युक्त सारी शक्तियाँ छिपी रहती है, जो समय पर प्रकट होती है।

शिष्य:- यदि सारी शक्तियाँ ब्रह्म में छिपी है तो वे युगपत एक साथ क्यों नही प्रकट हुई?

सदगुरू:- देखो! पृथ्वी में वृक्षों के बीज, पौधे, जडी बूटी, लताओं के बीज रहते है, पर कोई-कोई फूटते है। जैसी स्थिति मिट्टी की होती है, जैसा मौसम, ऋतु होते हैं, इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार शक्ति की प्रकटता की सीमा व प्रकृति निर्धारित होती है। जिस समय माया शक्ति में विद्यमान संकल्प-विकल्प शक्ति प्रकट होती है, वह "मन" का रूप धारण कर लेती है। अब तक प्रच्छन्न यह संकल्प शक्ति अचानक उभरकर मनरूप बनती है, जो नाना प्रकार के नाम रूपात्मक संसार चित्रित कर देता है। ऐसा वशिष्ठ जी का कथन है।

शिष्य:- इस "मन" की प्रकृति व विशेषताएँ क्या-क्या है? जो माया की प्रक्षेपण शक्ति का मूर्त रूप है।

सदगुरू:- उसकी प्रकृति है, संस्कारों एवं विचारों को संग्रहित करना अर्थात् "मन" की बनावट ही संस्कारों से है, उसमें प्रतिबिंबित चिदाभास के समक्ष दो प्रकार की वृत्तियाँ प्रस्तुत करता है-"अहं तथा इदं अर्थात् "मैं और यह" इन्हीं दो के सहारे भवन निर्मित करता है। तेरा-मेरा का कल्पित किला बनाता है और चिदाभास के सामने पेश करता है।

शिष्य:- किस प्रकार यह "अहंवृत्ति" को चिदाभास पर थोंपा जाता है?

सदगुरू:- जैसे सीपी पर चाँदी का भ्रम होता है, तप्त लोह पिण्ड को अग्नि के रूप में देखा जाता है, इसीप्रकार "मन" को प्रकाशित करने वाले चिदाभास

पर अहंवृत्ति थौंपी जाती है, अन्योन्य अध्यास होता है, जिस प्रकार तप्त लोह पिण्ड में स्थित अग्नि भ्रम से अपने को लोहा समझने लगे, लोहे के धर्म को अपने ऊपर थौपे तथा लोहा, अग्नि के गुण को अपने में माने, तो पारस्परिक अन्योन्यता के कारण अध्यास यानि भ्रांति उत्पन्न होती है। जैसे कोई व्यक्ति प्रेत से दबा हुआ होकर भ्रांतिपूर्ण व्यवहार करें, पूर्णतः दूसरे व्यक्ति की तरह बर्ताव करें, वैसे ही चिदाभास पर हावी हुई अहंवृत्ति के कारण, वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर सीमित अहं के रूप में बर्ताव करने लगता है।

शिष्य:- आश्चर्य है! किस प्रकार यह अपरिर्वतनीय साक्षी, चिदाभास अपने को “सीमित अहं” मान सकता है, जो कि प्रति पल बदलता रहता है?

सदगुरू:- यह वैसा ही है, जैस कोई तेज बुखार में महसूस करता है कि वह आकाश में, हवा में, उड़ा जा रहा है या शराबी, नशे के कारण अस्वभाविक व्यवहार करता है या पागल व्यक्ति अनर्गल बकता रहता है या स्वप्नदृष्टा लम्बी स्वप्न यात्रा पर निकलते हुए अनुभव करें या भूतग्रस्त आदमी विचित्र व्यवहार करें, उसी प्रकार चिदाभास स्वयं शुद्ध, अलिप्त होते हुए भी इस माया रूपी मन के गुणों के साथ दु:संग से एवं अहंवृत्ति के हावी होने से, खुद अपने को मन से जोड़कर मैं-मैं कहने लगता है।

शिष्य:- क्या मन की अहंवृत्ति चिदाभास पर छा जाने से चिदाभास, अहंकार (EGO) के समान दिखता है? या मन ही अहंकार जैसा चिदाभास के प्रकाश में दिखता है?

सदगुरूः- यह सवाल ही नहीं उठता है, क्योंकि मन जड़ है। चिदाभास के बिना निष्क्रिय है, अस्तित्वहीन है। अतः मन की अहंवृत्ति ही चिदाभास पर छा जाती है एवं वही भ्रमित होता है।

शिष्य:- प्रभो। और थोड़ा विस्तार से समझाइये।

सदगुरूः- जैसे रस्सी में विद्यमान माया शक्ति, स्वयं को सर्प के रूप में प्रक्षेपित नहीं कर सकती है पर रस्सी को सर्प जैसा दिखा सकती है, वह भी मंद अंधकार में, जल में छिपी शक्ति उस जल को क्षुब्ध रूप में यानि तरंग, झाग, बुलबुले या लहर के रूप में दिखाती है। अग्नि अपने को चिंगारियों के रूप में, एवं मिट्टी अपने अन्दर प्रच्छन्न माया शक्ति से घड़ा, सकोरा, खिलौने के रूप में प्रस्तुत करती है, उसी प्रकार मन रूपी माया पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब चिदाभास में निहित माया स्वयं अभिव्यक्त न होकर चिदाभास को सीमित अहंकार के रूप में प्रस्तुत करती है।

शिष्य:- अच्छा! गुरूदेव। यह कैसे कहा जाता है कि माया के प्रभाव से एक चैतन्य अनेक व्यष्टिरूप अहंकार में विभाजित हो जाता है? आपने कहा कि चैतन्य तो असंग है, आकाश के समान अलिप्त, व्यापक, अपरिवर्तनीय है। माया उसे कैसे प्रभावित कर सकती है? यह इसीप्रकार अर्थहीन नहीं है क्या कि कोई कहे-मैनें एक व्यक्ति को आकाश पकड़कर, कूटकर आदमी बनाते हुए देखा या वायु से मकान बना लिया आदि?

मैं इस संसार सागर में डुबा हुआ हूँ, कुछ नहीं समझता हूँ। कृपया मेरी रक्षा करें।

सदगुरू:- पुत्र! माया इसीलिए माया (या...मा यानि जो नहीं है) कहलाती है कि वह जादूगरनी है-अघटित-घटना-पटियसी यानि असंभव को भी संभव करके दिखाती है, जैसे एक बाजीगर निराधार हवा में एक नगर दिखा देता है, वैसे माया ऐसी चीजें दिखाती है, जो वहाँ पहले नहीं थी। एक सामान्य जादूगर लोगों को भ्रमित कर सकता है तो क्या माया जो जादू की साम्राज्ञी है, भ्रांति नहीं कर सकती है? इसमें विचित्रता की कोई बात नहीं है।

शिष्य:- कृपया इसे और स्पष्ट करके बतायें।

सदगुरू:- अब देखों नींद की शक्ति से, स्वप्न दृश्य कैसे उत्पन्न होते है। एक आदमी अपने बिस्तर पर गाढ़ निन्द्रा में पड़ा है पर अपने स्वप्न में पशु-पक्षियों का रूप लेकर इधर-उधर भाग रहा है, वह आदमी अपने घर में पड़ा है पर स्वप्न माया से वह अपने को वाराणसी की सड़कों पर टहलता हुआ या सेतु की बालु रेत पर लेटा हुआ, दिखाती है। यद्यपि वह बिना हिले-डुले सो रहा है पर स्वप्न में हवा में उड़ रहा है, पाताल में सिर के बल गिर रहा है, अपने ही हाथ को तलवार से काटकर हाथ से ही उसे पकड़कर ला रहा है, आदि दृश्य देख चकित नहीं होता है-सब मान लिया जाता है-स्वप्न में स्थिरता, निरंतरता भी नहीं है, पर बिना आलोचना या प्रश्न के सब को सही समझ लिया जाता है।

यदि एक सरल स्वाभाविक नींद, असंभव को संभव बना सकती है, तो चैतन्य की शक्ति महामाया, इस वर्णनातीत, विचित्र संसार को सत्य सा दिखाने में क्या अक्षम है? यह तो माया का स्वभाव ही है।

इसे और स्पष्ट करने के लिए मैं योग वाशिष्ठ में वर्णित एक दृष्टान्त सुनाता हूँ। सुनो! एक लवण नामक राजा इक्ष्वाकू वंश में पैदा हुआ था। एक दिन दरबार में भरी सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था, तब एक जादूगर आया। राजा को प्रणाम कर कहा कि आपको मैं एक चमत्कार दिखाता हूँ। गौर से देखिये-कहकर मयूर पुच्छ को राजा की आँखों के सामने घुमाया। तुरन्त राजा बेहोश होकर अपना परिचय भूल गया एवं महान् अस्वाभाविक मायास्वप्न देखने लगा। अपने सामने एक घोड़े को खड़े हुए देखा, उस पर चढ़कर जंगल की ओर शिकार के लिए चल दिया। बहुत समय शिकार खेलकर जब प्यास लगी, तब पानी की तलाश में चल पड़ा, पर पानी न मिलने पर थक गया, निढ़ाल हो गया, तब एक चाण्डाल युवती उधर से निकली, सिर पर मिट्टी के बर्तन में कुछ पके, मोटे अनाज का खाना था, भूख-प्यास से पीड़ित राजा ने प्राण संकट में होने के कारण अपनी जाति-कुल मर्यादा को छोड़कर, अपने राज-प्रतिष्ठा भूलकर भोजन-पानी के लिए याचना की। उसने कहा कि-यदि राजा उससे न्यायोचित रीति से विवाह करे तो वह भोजन देगी। बिना हिचकिचाहट के राजा ने मान लिया। भोजन प्राप्त कर उससे विवाह करके उस चाण्डालों के बाड़े में रहने लगा। उसके दो पुत्र, एक पुत्री पैदा हुए। आश्चर्य की बात थी कि राजा अभी तक अपने सिंहासन पर ही बैठा था पर डेढ़ घण्टें में उसने एक निकृष्ट चाण्डालों का जीवन जी लिया, जो कि बीस-पच्चीस साल की अवधि की थी।

इसीप्रकार वशिष्ट जी ने रामजी को कई कहानियाँ सुनाई, जिससे रामजी की समझ में महामाया के चमत्कारिक खेल आ जाये। असंभव को कैसे सरलता से संभव बनाती है, आदि बातों से रामजी प्रभावित हुए।

ऐसा कोई नहीं है, जो इस माया से भ्रमित नहीं हुआ हो। माया का स्वभाव ही है कि अघटित को घटा देना, मोह जाल फैलाना आदि। महामाया की शक्ति असीमित एवं विचित्र है, उससे कोई बच नहीं सकता है। अब देखो, चैतन्य का आभास जो कि शुद्ध, अलिप्त, असंग है, उसे ऐसा दिखा देती है, जैसे परिवर्तनशील, आने-जाने वाला, संग सहित।

शिष्यः- ऐसा कैसे हो सकता है?

सदगुरूः- आकाश रंगहीन, अखण्ड है, पर नीला दिखता है। इसीप्रकार चैतन्य तथा आभास शुद्ध है पर अशुद्ध अंहकार जैसा जीव रूप में दिखाती है। जैसे लवण राजा, चाण्डाल स्त्री के साथ रहा।

शिष्यः- परन्तु गुरूदेव यदि चिदाभास अहंवृत्ति से मिलकर जीव रूप दिखता है, तो एक ही जीव उत्पन्न होना चाहिए था, पर यहाँ तो अनेक जीव है। इतने सारे जीव एक चैतन्य से कैसे प्रकट हुए?

सदगुरूः- जैसे स्वप्न में एक जीव से अनेक हो जाते है, जैसे श्वान दर्पण वाले कमरे में घुसकर असंख्य प्रतिबिंबित श्वान देखकर तथा अनेक कुत्तों से अपने को घिरा हुआ मानकर घुर्राता, भौंकता है, लड़ने जाता है, उसी प्रकार एक जीव के भ्रम से स्वाभाविक ही अनेक भ्रांतिपूर्ण जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। एक जीव के भ्रम से अंसख्य जीवों का भ्रम घेरने लगता है।

अनेक जन्मों से संग्रहित संस्कार व आदतों के कारण यहाँ पर एक अद्वितीय चैतन्य में असंख्य जीव दिखते है। इसी आदतवश स्वप्न में भी "मैं, तू, वह" आदि अनेक आभासरूपी स्वप्न जीवी दिखते है। महामाया के लिए क्या नहीं संभव है।

अब इतना समझने के बाद, यह भी सुनो कि शरीरों, देश, काल की उत्पत्ति कैसे होती है।

जिस प्रकार माया की "अहंवृत्ति" के द्वारा चिदाभास जो कि चैतन्य की छाया है, रूप है, उस पर छा जाने से अहंकार के रूप में दिखता है उसी प्रकार चिदाभास के ही प्रकाश में माया की "इदंवृत्ति" (तू-वह-यह आदि वृत्ति) नाम रूपात्मक प्रपंच के रूप में शून्य में ही विस्तार से प्रस्तुत करती है।

शिष्य:- ऐसा कैसे हो जाता है ? कृपया स्पष्ट करें।

सदगुरू:- इस "इदंवृत्ति" में जो एक को अनेक करने व बताने की शक्ति छिपी है, वह यह कल्पना से समृद्ध है कि सब "यह, वह" के रूप में दिखाई दें। चिदाकाश के पर्दे पर, यह "इदंवृत्ति" अपने गर्भ में स्थित अंसख्य संस्कार व विचारों को उजागर कर सक्रिय कर देती है। जब संस्कार प्रक्षुब्ध होते है तब यह चिदाकाश के ही रूप चिदाभास या जीव (यद्यपि चैतन्य ही है) अपने को एक व्यक्तिगत शरीर व मन के रूप में प्रकट होते हुए देखता है। साथ में ब्रह्माण्ड, उसकी विविधता के रूप में भी जानने लगता है, यद्यपि वे उससे अभिन्न ही है।

शिष्य:- यह कैसे? मुझे यह समझ में नहीं आया है।

सदगुरूः- सर्वप्रथम मैंने तुम्हें बताया कि चैतन्य की माया शक्ति अखण्ड चैतन्य में जादू सरीखे उभरती है, उसके गर्भ में असंख्य संस्कार छिपे हुए है। किसी संस्कार पर बने चिदाभास से मन उभरकर दिखाई देता है एवं विभिन्न आकार दिखने लगते है। "यह रहा मेरा शरीर, अंगाग, हाथ-पैर" और "मैं ही शरीर हूँ" तथा "यह मेरे माता-पिता है" "मैं उसका पुत्र हूँ" "मेरी उम्र इतनी है-मैं इतने साल का हूँ" "ये सब मेरे सगे सम्बन्धी है, बन्धु-बांधव है" "यह मेरा घर है" "यह मैं हूँ" "तुम अलग हो" "यह अच्छा है, यह बुरा है" "यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है", "सुख-दुःख है" "यह जाति, वंश, कुल, कर्तव्य, जवाबदारियाँ, दायित्व है, यह उच्च, नीच, मध्यम है, मैं भोक्ता हूँ, भोग के ये विषय है, यह ब्रह्माण्ड, लोक, विश्वादि है" आदि कल्पना, सृजन व संस्कार टिड्डे सरीखे तीव्र गति से प्रकट होने लगते है। यह सब माया शक्ति है।

शिष्यः- परन्तु ये संस्कार जो बीज रूप है, कैसे ब्रह्माण्ड के रूप में विस्तार को प्राप्त होते है?

सदगुरूः- जब कोई व्यक्ति बिना हिले डुले आराम से गाढ़ निद्रा में जाता है, उस सुषुप्ति के बाद उसके मन में छिपे संस्कारों में क्षुब्धता, हलचल होती है। बीज रूप में स्थित संस्कार फूटकर अनेक जीवों, प्राणीयों, सजीव, निर्जीव वस्तुओं सहित विशाल स्वप्न, प्रपंच के रूप में परिणत हो जाता है। जाग्रत अवस्था में भी इसीप्रकार संस्कार रूपी बीज ही फूटकर जाग्रत प्रपंच के रूप में विस्तार को प्राप्त होता है, जिसे देखकर व्यक्ति भ्रमित होता है।

शिष्यः- परन्तु, हे गुरूदेव! स्वप्न में जो दृश्य दिखता है, वह तो जाग्रत अवस्था के दौरान मन पर पड़े हुए जगत के छाप का ही पुनर्निर्माण है। जाग्रत के समय मन जो भी ग्रहण करता है, वह तो निश्क्रीय होकर मन में संग्रहित हो जाते है। भूतकाल की स्मृतियों का पुनः प्रक्षेपण स्वप्न में होता है। अतः यह कहना बिल्कुल सही है कि स्वप्न मानसिक सृजन ही है। यदि जाग्रत भी मन का सृजन है, तो भूतकाल के छाप **(IMPRESSIONS)** का पुनः प्रक्षेपण मानना पडेगा, पर वे स्मृतिरूप छाप क्या है, जिससे यह जाग्रत दृश्य या सृष्टि प्रतीत होती है?

सदगुरूः- वत्स! जैसे जाग्रत दृश्यों का पुनः प्रक्षेपण स्वप्न के रूप में होता है वैसे ही पिछले जन्मों के अनुभव व संस्कार इस वर्तमान जाग्रत दृश्यों को जन्म देता है, पर है सब कुछ मिथ्या एवं मायामय।

शिष्यः- यदि वर्तमान जाग्रत दृश्य का कारण पूर्व जन्म के संस्कार ही है तो यह कार्य कारण तो सृष्टिकाल के प्रारम्भ तक पहुँच जाएगा। जब प्रलयकाल आता है तब कहा जाता है कि सब कुछ निरस्त होकर शून्य हो जाता है। तब नई सृष्टि के लिए क्या शेष रहता होगा?

सदगुरूः- (मुस्कुराते हुए) देखो जैसे दिनभर जो तुम्हारे संस्कार जाग्रत दृश्यों से पड़ते है, उन्हें समेट कर मन बीज रूप बनाकर सुषुप्ति में सो जाता है पर अगले दिन सुबह पुनः प्रकट करता है। जो कार्य अधूरा छोड़ा था उसे पुनः आगे बढ़ाता है। उसी प्रकार पूर्व कल्प में जो संस्कार शेष थे, वे बीज रूप में प्रच्छन्न रहते हुए अगले कल्प में पुनः सक्रिय हो जाते है। इसीलिए माया के गर्भ में ये संस्कार अनादिकाल से है तथा समय-समय पर प्रकट होते है।

शिष्य:- हे गुरो! बीते कल के अनुभवों को आज हम याद कर सकते है, पर बीते जन्मों की गतिविधियों की स्मृति क्यों नहीं रहती है?

सदगुरू:- यह सामान्यतः नहीं हो सकता है। जैसे स्वप्न में हमारी जाग्रत की गतिविधियाँ पुनरावर्तित होती है परन्तु जाग्रत के समान उनका स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं होता है, पर भिन्न रूप से अनुभव होता है, क्यों? क्योंकि नींद ग्राह्यता या ग्रहणशक्ति में अन्तर लाती है। नींद मूल रूप को विकृत करके टेढ़ा-मेढ़ा दृश्य दिखाती है। नींद जाग्रत के अनुभवों को अस्पष्ट, हिलते हुए, अस्थिर रूप से रूपांतरित करके दिखाती है। इसीप्रकार पिछले जन्मों के अनुभव भी बेहोशी (**coma**) एवं मृत्यु पीड़ा से प्रभावित हो जाते है। इस जन्म की परिस्थितियाँ पिछले जन्म से बिल्कुल अलग है पर पिछले अनुभव के पुनरावर्तन होने पर भी वर्तमान में पूर्व स्मृति उभर नहीं पाती है क्योंकि मध्य की बेहोशी के कारण स्मृति अस्पष्ट हो जाती है।

शिष्य:- एक संशय मुझे सता रहा है कि स्वप्न दृश्य को हम मानसिक सृजन कहकर जगने पर मिथ्या, क्षणिक मानकर हटा सकते है पर जाग्रत प्रपंच स्थायी, सत्य, ठोस, वास्तविक लगता है, इसके लिए प्रमाण भी है कि प्रतिदिन की परिस्थितियाँ समान है, भ्रमात्मक कहकर मिथ्या कोटि में कैसे वर्गीकृत किया जा सकता है ?

सदगुरू:- स्वप्न के दौरान भी अनुभव वास्तविक, प्रमाणिक लगते है, उस समय कुछ भी मिथ्या नहीं लगता है, जैसे जाग्रत सत्य, ठोस, स्थायी लगता है, वैसे ही स्वप्न प्रपंच भी स्वप्न समय में लगता है। इसीप्रकार अभी जो तुम्हें

जाग्रत प्रपंच के बारे में सत्यानुभव हो रहा है, वह तब मिथ्या लगेगा जब तुम अपने स्वरूप में जगोगे, उससे पूर्व कितना ही समझाएं नहीं महसूस होगा।

शिष्य:- तो फिर जाग्रत और स्वप्न में क्या अंतर है?

सदगुरू:- दोनों ही काल्पनिक, मानसिक एवं भ्रान्तिपूर्ण है। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है। केवल यह जाग्रत संसार दीर्घभ्रम है एवं स्वप्नभ्रम लघु भ्रांति है। इसके अलावा कोई अंतर इनमें नहीं है।

शिष्य:- अच्छा! यदि जाग्रत दीर्घस्वप्न है, तो यहाँ स्वप्नदृष्टा कौन है?

सदगुरू:- यह पूरा ब्रह्माण्ड एक स्वप्न है, जो अद्वैत, शुद्ध, चैतन्य, आभास के समक्ष, उसके सानिध्य में दिख रहा है।

शिष्य:- स्वप्न तो सोये हुए को ही होता है, क्या चैतन्याभास इस स्वप्न को अनुभव करने के लिए, सो गया है, क्या?

सदगुरू:- अनादि काल से मायाजनित अज्ञान, जो कि हमें अपने सत्य स्वरूप को जानने व उसमें स्थित नहीं होने देता है, वही हमारी नींद है। उस अज्ञान निद्रा में “मैं जीव हूँ” ऐसा स्वप्न देखता है, मोहग्रस्त अज्ञान से प्रभावित आभास अपने को कर्ता-भोक्ता, आने-जाने वाला समझकर स्वप्न देखता रहता है, जिनकी घटनाएँ पूर्व निर्धारित गति से माया में ही निहित है।

स्वप्न रूपी संस्कार पोटली के खुलने पर जो शरीर, इन्द्रियाँ दिखाई देती है, उन्हें अपना शरीरादि समझकर आभास मोहित, भ्रमित होता है, अपने को सीमित मानता है। माया में विद्यमान जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति

अवस्थाओं में घूम रहे उस शरीर-मन के साथ स्वयं को भी घूमते हुए महसूस करता है। इसी का नाम “संसार” है।

शिष्य:- यह जाग्रत अवस्था क्या है?

सदगुरू:- यह केवल वह स्थिति है, जिसमें “अहंवृत्ति” अन्य वृत्तियों व वस्तुओं से अपने को जोड़कर बर्ताव करती है। जब जीव अहंवृत्ति से जुड़कर स्थूल शरीर को मैं मानता है तब उसका नाम “विश्व” कहा जाता है तथा वर्तमान या जाग्रत का अनुभव करता है।

शिष्य:- स्वप्न क्या है?

सदगुरू:- जाग्रत अनुभवों से उत्पन्न मानसिक संस्कारों को संग्रहित करके जब इन्द्रियों को बाह्य कार्यो से समेट कर जब जीव विश्राम करता है तब उपर्युक्त संस्कारों से स्वप्न दृश्यों को पुनः प्रक्षेपित करता है। इस सुक्ष्म संसार के अनुभव करने वाले जीव का नाम “तैजस’ है।

शिष्य:- सुषुप्ति क्या है?

सदगुरू:- जब सारी मानसिक वृत्तियाँ सिमट कर बीज रूप होकर अपने कारण भूत अज्ञान में निष्क्रिय होकर दबता है, उसे सुषुप्ति कहते है। इसमें जीव चैतन्य से एक होने से आनंदानुभव करता है, पर अज्ञान आवरण सहित जाने से पुनः लौट आता है। इस सुषुप्ति के अनुभवी का नाम “प्राज्ञ” कहा जाता है। इस घटी यंत्र पर यह जीव चढ़कर कर्मो की गति के अनुसार तीनों अवस्थाओं से बार-बार गुजरते हुए, ऊपर-नीचे होता रहता है। इसी को “संसार” कहते है। कर्मो के पुनरावर्तन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है।

परन्तु उपर्युक्त समस्त कथन सत्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भ्रमित मन का सृजन है, जन्मना-मरना केवल दिखता है वास्तव में जीव न मरता है, न जन्मता है। भ्रांति के कारण महसूस होता है।

शिष्य:- मृत्यु व जन्म भ्रांतिपूर्ण कैसे है?

सदगुरू:- जो मैं बताने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनो। "मृत्यु" उसे कहते है, जैसे नींद के हावी होने पर जाग्रत के कार्य एवं परिस्थितियाँ दबकर नई स्वप्न परिस्थितियों को जन्म देती है अथवा सुषुप्ति के हावी होने पर सारी शारीरिक मानसिक गतिविधियों का अभाव हो जाता है, उसी तरह मृत्यु रूपी बेहोशी के हावी होने पर इस जन्म की सारी गतिविधियाँ रूक जाती है एवं बीज रूप होकर दब जाती है। जब मन पुनः नई परिस्थितियों का सृजन कर पूर्व संस्कार से प्रभावित होकर एक नई सृष्टि तैयार करता है, उसे "जन्म" कहते है। "जन्म" इस कल्पना से शुरू होता है कि "ये मेरी माँ, मैं उसके गर्भ में हूँ, मेरा शरीर यह है, हाथ-पैर मेरे है आदि" पुनः अपने को जन्मते हुए कल्पना करता है, एक नई दुनिया को देखने का भ्रम होता है - "ये मेरे पिता, मैं उनका पुत्र हूँ, मेरी यह उम्र है, ये मेरे मित्र-बांधव है, यह सुन्दर घर मेरा है आदि" नित नई कल्पनाएँ उभर कर आती है, जिससे पूर्व जन्म की कल्पना एवं स्मृतियाँ धीरे-धीरे ओझल होती जाती है, पूर्व कर्म, वासनाओं के फलस्वरूप उसकी आगामी कल्पनाएँ प्रभावित होती जाती है।

जब मृत्यु की बेहोशी सवार होती है, उससे पहले जीव के पूर्व कर्म के अनुसार उसे अलग-अलग प्रकार के भ्रम दिखते है। "मृत्यु पश्चात् मैं

स्वर्ग जाऊँगा, अप्सराएँ होगी, सुन्दर उद्यान होगें, देवता होगें, अमृत पान करूँगा" अथवा "यह रहा नरक, ये है यमराज, यमदूत क्रूरता से मुझे ज्वाला में पटकेगें, मैनें बहुत पाप किये है" अथवा "यह रहा पितृलोक या ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ या कैलाश आदि-आदि" इसप्रकार अपने स्वभाव, गुण, पूर्व कर्म, संस्कार के द्वारा आभास के समक्ष विभिन्न दृश्य प्रस्तुत करने पर भी चैतन्याभास अपरिवर्तनीय शुद्ध ही रहता है। जीव के सामने जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नरक गमन के दृश्य शीघ्रता से गुजरते जाते है, पर सभी माया द्वारा दिखाया जा रहा मिथ्या भ्रमपूर्ण दृश्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

चिदाकाश पर यह विचित्र दृश्य प्रपंच केवल दिखता है पर मिथ्या है, केवल नाम-रूपात्मक आडम्बर मात्र है, न कुछ बना है, न कुछ बिगड़ा है। सब बकवास एवं भ्रांतिपूर्ण है।

शिष्य:- यह दृश्य प्रपंच किस प्रकार मिथ्या है? कृपया स्पष्ट करे। हे गुरो! मैं ही नहीं, पर सभी को यह स्थावर-जंगम, सजीव-निर्जीव जगत प्रमाणित, सत्य, सीधे अनुभव में आने वाला प्रतीत होता है। क्यों तथा कैसे इसे मायामय, असत्य कहा जाता है?

सदगुरू:- यह परम सत्य एवं अकाट्य तथ्य है कि चिदाकाश पर्दे पर सपूर्ण जगत एवं उसकी क्रियाएँ आरोपित की गई है।

शिष्य:- आरोपित किस माध्यम से होता है?

सदगुरू:- आत्म-अज्ञान की वजह से आरोपित होता है।

शिष्य:- परन्तु कैसे आरोपित होते है?

सदगुरूः- जिस प्रकार दीवार पर बने तेल चित्र में स्थावर-जंगम, सजीव-निर्जीव पदार्थ दृश्य रूप से उभर आते है।

शिष्य:- समस्त शास्त्र घोषणा करते हैं कि पूरा विश्व ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न हुआ है पर आप कह रहे है कि आत्म-अज्ञान से विश्व नजर आता है। इन दोनों वक्तव्यों का समाधान कैसे हो सकता है?

सदगुरूः- कोई मतभेद नहीं हैं। शास्त्रों का कथन न समझने के कारण गलतफहमी हुई है। ईश्वर ही माया की सहायता से पंचभूत एवं त्रिगुण को मिलाकर विभिन्न, विविध रूपों का विश्व उत्पन्न किया, जो कि पूर्णतः मिथ्या है।

शिष्य:- यह कैसे होता है?

सदगुरूः- व्यक्ति अज्ञान के कारण यह भूल जाता है कि वह स्वरूपतः पूर्ण शुद्ध चिदाकाश ही है, शरीरादि के साथ तादात्म्यता के कारण अपने को दीनहीन, निकृष्ट, अल्प शक्तिमान समझने लगता है। यदि ऐसे भ्रमित आदमी को यह कहा जाएं कि तू ही सृष्टिकर्ता ईश्वर है तो वह इस धारणा को ही पूर्णरूप से नकार सकता है तथा इस मार्ग पर आने से इंकार कर सकता है। अतः शास्त्र, दयावश उसके स्तर पर उतर कर कहता है कि जगतकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता “ईश्वर” है, उसका भजन करो। पर यह बात झूठ है। शास्त्र उस उच्चस्तर के साधक के सामने सत्य को उद्घाटित करता है, जो इसे समझकर ग्रहण कर आत्मसात् करता है। अब तुम शिशुओं की कहानियों को

(NURSERY TALE) अध्यात्मिक सत्य समझ रहे हो। तुम्हें याद होगी, इस संबंध में योगवाशिष्ठ में उल्लेखित कहानी।

शिष्य:- कौन सी कहानी है, कृपया सुना दें।

सदगुरू:- इस रंग-बिरंगी दुनिया की निरर्थकता, व्यर्थता एवं शून्यता को उजागर करने वाली यह सुन्दर कहानी है। इस कथा के श्रवण से इस दुनिया को वास्तविक, ठोस, सत्य मानना तथा ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने की मिथ्या भावनाएँ गायब हो जाएगी। अब संक्षिप्त में कथा सुनो, जो इस प्रकार है:-

एक शिशु ने अपनी धाई से कहा कि वह एक रसपूर्ण कथा उसे सुनाएँ। तब उस धात्री ने प्रारंभ किया “एक समय में अत्यंत शक्तिशाली एक राजा था जो तीनों लोकों को वश में करके राज्य करता था। वह राजा एक बांझ का पुत्र था। उसे ऐसी शक्तियाँ प्राप्त थी कि अपनी असाधारण इन्द्रजालिक शक्ति से लोकों को बनाने, पोषित करने व लय करने की कला आती थी। वह अपनी इच्छा से तीन प्रकार की काया, यथा सफेद, पीली, काली धारण कर सकता था। जब पीली काया धारण करता तब उसमें लोकों को सृजन करने की जबरदस्त धुन उठती थी एवं जादूगर सरीखे वह सुन्दर नगर की सृष्टि कर डालता था।

शिशु:- माँ ! वह सुन्दर नगर कहाँ पर है?

धात्री:- वह वायु मण्डल के मध्य में लटक रहा है।

शिशु:- उस नगर का नाम क्या है?

धात्री:- सम्पूर्ण मिथ्या नगरी।

शिशु:- राजा ने किस चीज से नगर बनाया? वह कैसा नगर था?

धात्रीः- उसमें चौदह राजमार्ग थे, जिसके प्रत्येक भाग में तीन-तीन विभाजन थे, जिनमें सुंदर उद्यानों, विशाल इमारतें, सात भारी विशाल तालाब, जिसके चारों तरफ मोतियों की लड़ियाँ थी, दो दीपक जलते थे, एक ठण्डा एवं एक गरम, वह नगरी हमेशा इन दीपकों से प्रकाशित रहती थी। उस बांझ पुत्र राजा ने अनेक मकान भी बनाए, कोई ऊँचा, कोई मध्यम, कोई अति नीचा थे। प्रत्येक मकान की छत पर काले मखमल बिछे रहते थे, नौ द्वार, अनेक खिडकियाँ थी जिससे हवा आ जा सके, पाँच दीपक थे, तीन सफेद खम्भें व दीवारें थी जिन पर पलस्तर किया गया था। राजा ने अपने जादू से घर की रखवाली के लिए भयानक प्रेत भी तैयार किया था। जैसे पक्षी अपने घोंसले में प्रवेश करता है, वैसे वह राजा अपनी मर्जी से किसी भी घर में प्रवेश करके मस्ती से खेलता था।

अपनी काली काया से घरों की रक्षा करता था। अपनी सफेद काया से सब को एक क्षण में भस्म कर डालता था। इसीप्रकार वह बांझ पुत्र राजा मूर्खतापूर्वक पुनः-पुनः मकान बनाकर, रक्षा करके उन्हें भस्म कर-करके एक बार इस कार्य से बहुत थक गया। उसे एक मरीचिका दिखाई दी तो उसमें नहाकर तरोताजा हुआ तथा आकाश कुसुमों को बटोर कर माला बनाकर पहना।

मैंनें उस राजा को देखा है, वह यहाँ थोड़ी देर में आएगा। वह सीपी के रूपा (चाँदी) में बने नगों से सुसज्जित जेवर तुम्हारे लिए ले आएगा, तुम्हें पहनाएगा।

उस शिशु ने उस कथा को सत्य समझ कर, अत्यंत प्रसन्न हुआ। इसीप्रकार जो इस विश्व को सत्य मानते है, वे मुर्ख प्रसन्न होते है।

शिष्य:- इस कहानी से क्या साबित होता है?

सदगुरूः- इस कथा में जो शिशु है, वही अज्ञानी, लौकिक, भौतिकवादी आदमी है, धात्री ही शास्त्र है, जो विश्व के सृष्टिकर्ता ईश्वर है, ऐसा प्रारम्भ में प्रतिपादित करते है। माया पर पड़े प्रतिबिम्ब ही बांझ का पुत्र ईश्वर है, उसकी तीन काया ही तीन गुण है। पीले शरीर से ब्रह्मा, सफेद शरीर से शिव, काले से विष्णु रूप से कार्य करता है। आकाश के मध्य लटकते हुए नगर समान, ब्रह्मा, चिदाकाश में, पुर्ण मिथ्या नगरी का निर्माण करता है, चौदह राजमार्ग ही चौदह भुवन है, उद्यान ही जंगल है, ऊँची इमारतें ही पर्वत मालाएँ है, दो दीपक ही सूर्य और चन्द्र है, विशाल जलाशय ही समुद्र है, जिनमें मोतियों की लड़ियों के समान नदियाँ बहकर मिल जाती है।

ऊँचे, मध्यम, नीचे मकानों का तात्पर्य है देवता, मनुष्य एवं पशुओं के शरीर सफेद खम्भे ही अस्थि पिंजर है, पलस्तर ही त्वचा है। काला मखमल जो छत पर बिछा है, वह सिर के बाल है, नवद्वार शरीर के नौ मार्ग है, पाँच दीपक पंचेंद्रियाँ है, प्रेत जो रखवाली करता है, वही अंहकार (**EGO**) है, जिसे तादात्म्यता शक्ति भी कहते है।

अब, ईश्वर जो कि बांझ का पुत्र है (माया का पुत्र) इन मकानों के निर्माण के बाद अपनी मर्जी से उनमें “जीव” होकर प्रवेश करता है, प्रेत (तादात्म्यता) रूपी अंहकार (**EGO**) से खेलता है तथा दिशाहीन होकर घूमता है।

काले शरीर से “विराट” नामक विष्णु बनकर पोषण करता है, सफेद शरीर से रूद्र (नाशकर्ता) बनकर विश्व को खींचकर अपने में समेट लेता है। यह उसका खेल है और वह इससे प्रसन्न है, विषयभोग ही मरीचिका मे स्नान है, जिससे तरोताजा होता है। आकाश कुसुम ही उसके गुण सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमानता, सर्वव्यापकता आदि। उसके गहने ही स्वर्ग एवं नरक है। सीपी के चाँदी से बने जेवर है, चार प्रकार की मुक्ति सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्ति। राजा का शिशु के लिए भेंट लेकर आने का अर्थ है - भक्तों की प्रार्थना व उपासना से खुश होकर (मूर्ति पूजा के परिणाम से) भक्तों की ही भावना से मूर्तिमान होकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करना।

इसप्रकार अज्ञानी, सकामी साधक इन शास्त्रों के पठन से मोहित, भ्रमित होकर इस विश्व को सत्य मान लेता है।

शिष्य:- यदि स्वर्ग, नरक, तथा चारों प्रकार की मुक्ति मिथ्या है, तो शास्त्र का एक भाग इनको प्राप्त करने का मार्ग, विधिविधान की चर्चा क्यों करता है।

सदगुरूः- जब ममतामयी माँ यह देखती है कि उसका छोटा बच्चा पेट दर्द से परेशान है, पर काली मिर्च की दवा वह लेने से इंकार करेगा पर शहद बेहद पसन्द करता है, तो वह कालीमिर्च चूर्ण की गोली के चारों तरफ शहद लपेटकर उसे मुँह में ठूंसती है, जिससे वह ठीक हो जाएं। इसीप्रकार शास्त्र दयावश, उस अज्ञानी साधक को जो उच्च तत्व को समझने में अक्षम है, स्वर्ग आदि के सुख के बारे में उल्लेख करता है। शास्त्र यह जानता है कि उसे अज्ञानी साधक को अद्वैत सत्य के प्रति आर्कषण व प्यास का अभाव है तथा इस लोक

के विषयों के प्रति लगाव है, सूक्ष्म सत्य को ग्रहण कर समझने में उसे कठिनाई है परन्तु येन केन प्रकरेण उसे सत्य को समझाना है, सन्मार्ग की ओर लाना है, इन उद्देश्यों से शास्त्र चार प्रकार की मुक्ति की बात करता है।

शिष्य:- परन्तु क्या वह अद्वैत की तरफ मुड सकता है? इन स्वर्ग-मुक्ति कामनाओं को लांघकर वह सन्मार्ग की और कैसे आ सकता है?

सदगुरू:- देखो सत्कर्म से स्वर्ग प्राप्ति होती है, तप-भक्ति से विष्णुलोक की व चार प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति होती है। जब साधक इस लक्ष्य से अभ्यास बारम्बार करता है तथा अनेक जन्म पुनः लेता है, तो शुद्ध होता है। विषय भोगों से विरक्त होकर उच्चज्ञान के लिए तत्पर होता है।

शिष्य:- गुरूदेव! स्वर्ग-नरक आदि भले ही मिथ्या, काल्पनिक हो, पर अक्सर शास्त्रों में वर्णित ईश्वर कैसे आप मिथ्या कहते है?

सदगुरू:- शास्त्र में प्रारम्भ में जो ईश्वर व उसके विशेषणों का वर्णन आता है, आगे चलकर उन्हीं शास्त्रों में उल्लेख है कि ईश्वर माया में प्रतिबिंबित चैतन्याभास है, जीव अविद्या (मन) में प्रतिबिंबित चिदाभास है।

शिष्य:- इसप्रकार शास्त्र दो मुंही बातें क्यों करते है ? पहले के वक्तव्य को बाद में क्यों काटते है ? इसप्रकार भ्रमित करने का उनका क्या मकसद है?

सदगुरू:- प्रारंभिक अवस्था में अज्ञानी साधक एक शिशु समान है, उसके चित्त की शुद्धि के लिए सत्कर्म, जप, तप, व्रत, तीर्थ, भक्ति उपासना, यज्ञ-यज्ञादि द्वारा अपने प्रयत्न से करने को शास्त्र प्रेरित करता है, प्रलोभन के रूप में सुखों का वर्णन करता है, वे सभी फल जड़ होने के कारण अपने आप से

साधक को इच्छित फल नहीं दे सकते है, इसलिए ईश्वर को लाया जाता है कि वही फलदाता है। इसप्रकार रंगमंच पर ईश्वर का प्रवेश होता है, बाद में शास्त्र, जीव, ईश्वर, जगत सभी को समान रूप से मिथ्या ठहरा देता है।

ईश्वर जो कि माया का भ्रमात्मक सृजन है, उतना ही सत्य है, जितना स्वप्न दृश्य। वह उतना ही सत्य है, जितना नींद के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्वप्न जीवी, जो कि जीव के ही समान दर्जे में खड़ा है। अतएव ईश्वर, जीव सब अज्ञान की उत्पत्ति है।

शिष्य:- शास्त्र जो, ईश्वर को माया से उत्पन्न कहते है, पर उसे अज्ञान की उत्पत्ति कहने का तात्पर्य क्या है?

सदगुरू:- आत्म अज्ञान व्यष्टि या समष्टि रूप से कर्म कर सकता है। एक वृक्ष को व्यष्टि तथा पूरे जंगल को हम समष्टि कह सकते है। ब्रह्माण्ड के कुल मिलाकर जो अज्ञान है, उसे माया कहते है। उस पर पड़ रहे प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते है। सार्वभौमिक जाग्रतावस्था में उसे "विराट" कहते है तथा सार्वभौमिक (**UNIVERSAL**) स्वप्नावस्था में "हिरण्यगर्भ" कहते है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कहा जाता है, क्योंकि निर्माण में स्वतंत्र संसार के प्राणियों में उसका प्रवेश स्वैच्छा से है, व्यष्टि अज्ञान को सिर्फ अज्ञान कहते है। उस प्रतिबिम्ब को जीव कहते है, वह भी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में "विश्व, तैजस, प्राज्ञ" के नाम से जाना जाता है। वह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान है, उसे कर्ता-भोक्ता भी कह देते है, उसका संसार उतना ही है, जो वर्तमान जाग्रत अवस्था में जो कुछ भी है, जो कि अत्यंतिक मुक्ति तक चलता है। इसप्रकार शास्त्र अन्त में निष्कर्ष निकालता है कि ईश्वर, जीव, जगत सब मिथ्या है।

शिष्य:- एक संशय मुझे सता रहा है। हे गुरो! रस्सी के अज्ञान से सर्पभ्रम होगा तो देखने वाले उसी व्यक्ति को होगा, पर अपने को जीव मानने का भ्रम व्यष्टि को ही होगा। वही भ्रम विस्तृत होकर ईश्वर, जगत सम्बन्धी भ्रम कैसे उत्पन्न करता है?

सदगुरूः- अज्ञान का कोई भाग-विभाग या अंश नहीं है। वह पूर्णतः काम करता है, जब अज्ञान होता है (अपने स्वरूप की विस्मृति होती है) तब ईश्वर, जीव, जगत भ्रम एक साथ होता है। जब जीव जाग्रत अवस्था में व्यवहार करता है, तभी जगत व ईश्वर प्रकट होते है। जैसे ही जीव की पहेली सुलझती है, तीनों गायब हो जाते है। जाग्रत का अनुभव हकीकत स्वप्न में विस्मृत होता है, स्वप्न, जाग्रत दोनों ही सुषुप्ति में विस्मृत होते है।

जब स्वरूप ज्ञान होता है, तब जीवत्व के निराकरण के साथ ही युगपत अन्य दोनों का भी निराकरण हो जाता है। जिन ज्ञानीयों ने साक्षात् आत्मानुभव किया है, वे केवल एक अद्वैत सत्य के प्रति ही सजगतापूर्वक (**AWARENESS**) स्थित रहते है। इसलिए स्पष्ट है कि आत्म अज्ञान के कारण ही ईश्वर, जीव, जगत भ्रांति होती है।

शिष्य:- यदि ईश्वर अज्ञान का परिणाम है तो ऐसा क्यों महसूस होता है कि वहीं जगत का मूल कारण है और सृष्टिकर्ता है ? आपके कथनानुसार यदि ईश्वरत्व हमारा सृजन है तो ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि हमें उसने पैदा किया है, हमारे सृष्टिकर्ता के रूप में अनुभव होने से, यह अन्याय नहीं है, क्या इसप्रकार कहना कि ईश्वर, जगत सब भ्रम है? यह विरोधाभास लगता है। कृपया स्पष्ट करें।

सदगुरूः- नहीं! ऐसी बात नहीं है। तुम मान लो कि स्वप्न में अपने पिता को देखते हो, जो कि वर्षो पहले जाग्रत अवस्था में मर चुका है। स्वप्न के पिता को किसने सृजन किया है ? स्वप्न भ्रम के कारण अपने द्वारा सृजित पिता को मानते हो कि (स्वप्न में) उसके द्वारा उत्पन्न पुत्र तुम हो, वह तुम्हारा पूज्य पिता है। उससे तुमने जायदाद अर्जित करी है, जो कि पुनः तुम्हारी सृष्टि है।

इसप्रकार देखों व्यक्ति अनेक लोग, जन, वस्तु, प्राणी आदि की स्वप्न में सृष्टि कर उनसे सम्बन्धित होकर सोचता है कि वह पहले से मौजुद थें व वह स्वयं बाद में आया है। इसीप्रकार ईश्वर, जगत, जीव के बारे में भी जानों। यह सब माया की ठगी (**TRICK**) है, जो असंभव को संभव बना देती है।

शिष्य:- माया इतनी शक्तिशाली कैसे बन गई?

सदगुरूः- कोई आश्चर्य नहीं! देखों! कैसे एक सामान्य बाजीगर देखने वालों को अचम्भें में डाल देता है या तुम खुद एक चमत्कारिक दुनिया स्वप्न में बनाते हो ? यह अल्पशक्तिमान व्यक्ति ऐसा चमत्कार कर सकता है तो चैतन्य की शक्ति माया से क्या नहीं संभव है?

निष्कर्ष स्वरूप अपने अज्ञान के कारण ही ईश्वर, जीव, जगत रूपी भ्रम उत्पन्न होकर चैतन्य रूपी पर्दे पर आरोपित होते है, एक ही अद्वैत सत्य चैतन्य है।

अब इस अध्यारोप को हटाने के मार्ग या विधि की ओर हम आगे बढ़े ।

-: अध्याय दो - अपवाद :-

शिष्य:- आदरणीय गुरूदेव! यह कहा जाता है कि अज्ञान अनादि है, इससे यह भी पता लगता है कि उसका अन्त भी नहीं है, फिर अनादि अज्ञान की निवृत्ति किसप्रकार संभव हो सकती है ? आप तो प्रेम और करूणा के समुन्द्र है, कृपया मुझ दीन को इस सम्बन्ध में मेरी मन्दमति को ध्यान में रखते हुए, स्पष्ट करें।

सदगुरू:- हाँ, मेरे बेटे! तुम बुद्धिमान हो तथा सूक्ष्म बारीक बातों को समझ सकते हो। यह तुमने ठीक ही कहा है कि अज्ञान अनादि है परन्तु उसका अन्त निश्चित है। ज्ञान का उदय होते ही उसका नाश व अन्त हो जाता है। जिस प्रकार सूर्योदय से तम, रात्री का अंधकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान सूर्य से अज्ञान अन्धकार का नामोनिशान नहीं रहता है।

संदेह व गलतफहमी दूर करने के लिए, ऐसी विश्व चीजों को समझने वास्ते उसका विश्लेषण पाँच विभागों में बाँटकर गौर किया जाता है :- कारण, प्रकृति या स्वरूप, प्रभाव, अवधि तथा फल (**CAUSE, NATURE, EFFECT, LIMIT & FRUIT**), ये पाँच विभाग केवल माया के अन्तर्गत ही विश्लेषण के लिए प्रयुक्त किये जाते है। पारमार्थिक सत्य अद्वैत होने से इन सब से परे है।

प्रथमतः हम माया को ही ले। उसके जन्म या उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है क्योंकि यह अनादि काल से ब्रह्म में ही छिपी रहने वाली चैतन्य शक्ति है, जो समय पर व्यक्त होती है। माया जो कि है ही नहीं पर दिखती है,

जैसे तुम्हारी छाया का जन्म कब, कैसे हुआ ? कहाँ रही ? तुमसे एक है कि अलग ? छाया स्वाभाविक ही बनती है, जिसकी जन्म तारीख नहीं है। तुम्हारी स्वप्न सृष्टि दिखने का कारण क्या है ? उस अभिव्यक्ति का कोई कारण नहीं दिखता है, फिर भी प्रकट होता है। अतः उसका कारण वह स्वयं ही है।

शिष्य:- क्या इस वक्तव्य की पुष्टि किसी प्रामाणिक स्त्रोत से हुई है ?

सदगुरूः- हाँ! अवश्य! योग वाशिष्ठ में वशिष्ठ जी कहते है कि जिस प्रकार जल से स्वभावतः बुलबुले, तरंगादि उठते है, उसी प्रकार शक्तिशाली, पूर्ण, अद्वैत, परब्रह्म से नाम रूपात्मक अभिव्यक्ति से भरपूर एक शक्ति जिसे माया कहते है, उठती है।

शिष्य:- गुरूदेव ! माया का कारण कैसे नहीं हो सकता है ? मिट्टी से घड़ा अपने आप नहीं बन जाता है, पर कुम्हार का इसके लिए निमित्त होना जरूरी है। यदि माना जाय कि मिट्टी में घड़े बनने की सामर्थ है भी, पर बीच में कुम्हार का होना आवश्यक है। चैतन्य की शक्ति माया प्रच्छन्न रहती है, पर "ईश्वर" के संकल्प से ही उठती होगी ? जो अप्रकट थी, उसे प्रकट करने में निमित्त तो होगा ?

सदगुरूः- बेटे ! जब प्रलय होता है, तब एक चैतन्य अद्वैत, ब्रह्म के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहता है। उस समय "ईश्वर" भी नहीं रहता है। अतः ईश्वर के संकल्प की बात जो तुम कह रहे हो, वह हो ही नहीं सकता है। जब यह कहा जाता है कि जब विनाश होता है या लय स्थिति होती है, तो सब प्रकट रूप जैसे समस्त जीव, समस्त ब्रह्माण्ड, ईश्वर भी लय को प्राप्त होकर अप्रकट हो जाते है। अप्रकट या लय हुए ईश्वर अपना संकल्प कैसे चला सकता

है ? वत्स ! ऐसा समझो कि प्रतिदिन जो अपने जीवन में सुषुप्ति नामक प्रलय होता है, तब नींद में विद्यमान छिपी शक्ति ही स्वप्न में परिणत होती है, इसीप्रकार चैतन्य में छिपी माया ही द्वैत का प्रदर्शन करके जीव, ईश्वर, जगत दिखाती है। ईश्वर उसका संकल्प, ब्रह्माण्ड सभी जीव, सब कुछ माया के ही कार्य है। ईश्वर अपने स्त्रोत (**ORIGIN**) का स्त्रोत कैसे बन सकता है ? अतः माया का कोई कारण नहीं है। प्रलय में केवल ही संकल्प रहित, अपरिवर्तनीय शुद्ध तत्व ही रहता है। चैतन्य ब्रह्म में अब तक निष्क्रिय अप्रकट पड़ी हुई मायाशक्ति हठात् "मन" के रूप में उभरती है, जिसके बाद यह सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। जादू सरीखे, चिदाभास सहित खेल शुरू होता है, जिससे द्वैत प्रपंच, जीव, ईश्वर दिखाई देने लगते है। सृष्टिकाल में माया प्रकट रूप में तथा प्रलयकाल में अप्रकट रूप में रहती है। इसप्रकार स्वभावतः अपने आप से ही माया व्यक्त एवं अव्यक्त होती रहती है एवं अनादि है। इसलिए हम कहते है कि माया की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है।

शिष्य:- समझ गया, पर उसका स्वरूप कैसा है?

सदगुरू:- वह तो वर्णनातीत है, अवांग्मन, अगोचर है, अकथनीय है। पर वह मिथ्या है, प्रलयकाल में कहीं नहीं होती है, निरस्त हो जाती है। पर तथ्यतः हम अनुभव करते है, अतः असत्य भी नहीं कह सकते है। असत्य व सत्य का मिश्रण भी नहीं कहा जा सकता है। अतः ज्ञानी लोग उसे अनिर्वचनीय कहते है। जैसे स्वप्न न सत्य है, न ही असत्य है। अनुभव में आता है पर जगने पर मिलता नहीं है, मिथ्या है।

शिष्य:- यह सत्य, असत्य व मिथ्या क्या चीज है?

सदगुरूः-	सबका एवं माया का अधिष्ठान, आधार, अद्वैत, त्रिकालाबाध, शुद्ध चैतन्य सत्य है। बांझपुत्र-गंधर्व नगर असत्य है। जो भ्रमात्मक प्रक्रिया जैसे नामरूपात्मक जगत्, स्वप्न प्रपंच, मरीचिका, रस्सी में सर्प, ठूंठ में चोर, आकाश में नीलता, सीपी में चाँदी आदि भ्रम मिथ्या कहलाते है।

शिष्यः-	फिर माया क्या है ? सत्य या असत्य?

सदगुरूः-	वह दोनों नहीं है। सत्य अधिष्ठान से भिन्न प्रकृति की है तथा असत्य कथन से भी अलग है, मिथ्या है।

शिष्यः-	कृपया स्पष्ट करें।

सदगुरूः-	जैसे हाथों में शब्द नहीं है, पर उसके मिलने से ताली बजती है, धुँआ लकड़ी में नहीं होता, न अग्नि में ही होता है, पर उसके मिलाप से उठता है।

जैसे अग्नि आधार है, उससे चिंगारियाँ उठ रही है, जो कि अग्नि स्वरूप ही है, फिर भी वे अग्नि में मौजुद नहीं है, पर उससे निकलती है। अग्नि में विद्यमान कोई शक्ति ही चिंगारियों को उत्पन्न करती है। मिट्टी या मृदा आधार है, गोल खालीपन वाला जिसकी पतली ग्रीवा है, उसे घड़ा कहते है, उससे (मिट्टी से) बनता है, कोई शक्ति जो न मिट्टी में थी, न घड़े में, कोई उन दोनों से भिन्न थी, कहीं मौजुद थी।

पानी आधार है, बुलबुले परिणाम है, जो बने है किसी शक्ति से, जो कि इन दोनों से भिन्न है।

सर्प का अण्डा आधार है, सर्प का बच्चा परिणाम है। जो शक्ति न अण्डें में है, न सर्प बच्चे में है, उसे अनिर्वचनीय कहते है।

बीज आधार है, उससे निकला अंकुर परिणाम है। जो यह कार्य नहीं है, वह बीज व अंकुर से भिन्न है।

सुषुप्ति में पड़ा जीव आधार है, स्वप्न परिणाम है। एक शक्ति जो कि जीव से भिन्न है तथा स्वप्न से अलग है, उसका पता जगने पर ही चलता है।

इसीप्रकार ब्रह्म में विद्यमान मायाशक्ति जगतरूपी भ्रम दिखाती है। आधार ब्रह्म है, जगत् परिणाम है, पर माया इन दोनों से अलग है, जिसे परिभाषित नहीं किया जा सकता है, फिर भी वह है, उसका अस्तित्व अनुभव में आता है। अतः हम कह सकते है कि माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

शिष्यः- माया का प्रभाव (**EFFECT**) क्या है?

सदगुरूः- अपनी दुहरी शक्ति यथा आवरण तथा विक्षेप के द्वारा चैतन्य के आधार पर जीव, ईश, जगत रूपी भ्रम को प्रक्षेपित कर भ्रमित करना उसका प्रभाव है।

शिष्यः- वह कैसे?

सदगुरूः- जैसे ही अप्रकट मायाशक्ति “मन” के रूप में प्रकट होती है, उस मन में विद्यमान संस्कार, शाखा-प्रशाखाओं सहित विशाल वृक्ष सरीखे एक क्षण में उभर आते है, जो जगत रूप में प्रकट होता है। मन ही उस अभिव्यक्त रूप से खेल में लगता है। संस्कारों से असंख्य विचार प्रस्फुटित होकर ठोस बनने लगते है एवं उस ठोस जगत के ठोस पदार्थो के रूप में दिखाने लगते है। जब कि कहीं ठोसपन नहीं है, जैसे स्वप्न दृश्यों में कोई ठोसपन है? जीव-ईश जो भ्रमात्मक दृश्य जगत् के अन्तर्गत है, एक दिवास्वप्न से अधिक नहीं है।

शिष्य:- किसप्रकार यह सब भ्रमात्मक है, कृपया और स्पष्ट करें।

सदगुरूः- यह जगत् दृश्य विषय मात्र है, जिसे मन अपनी क्रीड़ा या लीला से देखता रहता है। समस्त जीव, ईश उसी दृश्य में है। अंश, पूर्ण से अलग नहीं है-मिश्री की डली से मिश्री के कण अलग नहीं है। मन से मन के दृश्य अलग नहीं है, स्वप्नदृष्टा से स्वप्न भिन्न नहीं है। मान लो दिवार पर ब्रह्माण्ड का चित्र बनाया गया हो तो उसमें जितनी वस्तुएँ, जीव-ईश्वर है, सभी उसी तैलचित्र में है, वे चित्र उतने ही सत्य, जितना वह पूरा तैल चित्र।

अतः जीव-जगत्-ईश्वर, मन की उपज होने से मन के ही अंश व भाग है। सब मानसिक प्रक्षेपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्रुति (उपनिषद्) से यह स्पष्ट होता है कि माया के द्वारा ही जीव-ईश भ्रम उत्पन्न होता है। वशिष्ठ स्मृति में वशिष्ठ जी कहते है कि जादू-इन्द्रजाल समान मन में संग्रहित संस्कार नृत्य करने लगते है, जिससे मैं-तू-यह-वह-मेरा पुत्र-मेरी सम्पत्ति आदि जोरों से बिना रोक-टोक निकलने लगते है।

शिष्य:- कहाँ पर यह स्मृति ईश-जीव-जगत् सम्बन्ध में उपर्युक्त वक्तव्य दिया है?

सदगुरूः- "सोहमिदं" नामक पद में है-"सः"त्र वह, ईश्वर जो कि अदृश्य है, "अहं"त्र जीव का प्रतिपादक, जो तादात्म्यतापूर्ण है, (**EGO**) कर्तापन से ग्रसित है, "इदं"त्र सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच है। इसके अतिरिक्त श्रुति, युक्ति, अनुभव से स्पष्ट होता है कि जीव-ईश-जगत् केवल मानसिक प्रक्षेपण है एवं मिथ्या है।

शिष्य:- कैसे श्रुति, युक्ति इस दृष्टिकोण में सहायक है?

सदगुरू:- केवल जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में ही ये संस्कार सक्रिय होकर जीव-ईश-जगत दृश्य को दिखाते है। सुषुप्ति, बेहोशी आदि में ये संस्कार निष्क्रिय होकर, सिमटकर बीज रूप हो जाते है तथा पूर्णतः ओझल रहते है। यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति का है।

पुनः जब ज्ञान द्वारा सारे संस्कार जल कर मूल से नष्ट हो जाते है, तब हमेशा के लिए जीव-ईश-जगत् गायब हो जाते है। यह ज्ञानमयी दृष्टि सम्पन्न महापुरूषो का अनुभव है, जो सर्वत्र, सदा ब्रह्म ही अनुभव करते है। अतः हम कहते है कि सब मन का प्रक्षेपण ही है। माया के प्रभाव सम्बन्धी तुम्हारे प्रश्न का यही जवाब है।

शिष्य:- माया की "अवधि" क्या है?

सदगुरू:- माया की अवधि (**LIMIT**) है, "महावाक्य" जन्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन एवं निर्विकल्प समाधि से प्राप्त ज्ञान की उत्पत्ति तक है। माया चूंकि अज्ञान ही है, अज्ञान विचारहीनता के कारण है। जब यह विचार उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ ? यह जगत् क्या है ? तब सही ज्ञान उपजता है तथा अज्ञान को समूल नष्ट कर देता है।

अब ध्यान से सुनो। रोग शरीर में पूर्वकर्मो के फलस्वरूप उत्पन्न होते है जो गलत आहार-विहार से बढ़ते है एवं इसी गलती की निरन्तरता से रोग अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। इसीप्रकार जब रस्सी के अज्ञान से, सर्प का प्रक्षेपण होता है। यदि उसका विचार यानि खोज विश्लेषण नहीं करेंगे तो वह सर्प दिखता ही रहेगा जिससे नाना प्रकार की कल्पनाएँ, भाव संवेग

होने लगते है। इसीप्रकार माया यद्यपि स्वतः प्रमाणित है, अनादि चमत्कारी जादूशक्ति है परन्तु तब तक भय, आदि भाव उत्पन्न करती है, जब तक आत्मविचार नहीं होता है। माया आत्म-विचार के अभाव में ही फूलती-फलती है, वृद्धि को प्राप्त कर विशाल हो जाती है। अनेक ब्रह्माण्ड बताकर जन्मों का भ्रम उत्पन्न करती है।

जब सद्गुरू के सान्निध्य में शिष्य विचार करने लगता है, तब, अब तक मजबूत बनी माया को पोषण नहीं मिल पाता है तथा धीरे-धीरे दुबली-पतली होने लगती है। इसके पश्चात् कमजोर हुई माया अपने दल-बल जैसे संस्कार, जगत, जीव, ईशादि को समेट कर नौ दो ग्यारह हो जाती है। जिस प्रकार विचार के अभाव में रस्सी के दृश्यसर्प, विचार व प्रकाश के आते ही हठात् गायब हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान, विचाराभाव में माया रूपी सर्प भय उत्पन्न करता है पर विचार का प्रकाश आते ही हठात् गायब हो जाती है। अतः ज्ञानप्रकाश से पूर्व जगत भ्रम रूपी माया नाचती है, पर दृष्टि स्वयं की ओर मुड़ते ही केवल चैतन्य ब्रह्म ही रह जाता है।

शिष्य:- परन्तु एक ही वस्तु (चैतन्य) दो प्रकार से कैसे दृश्यमान है?

सदगुरूः- केवल विचार का ही अन्तर है। अद्वैत ब्रह्म जो कि शुद्ध चैतन्य है, विचार के अभाव में जगत दिखता है। जब इन्द्रियों एवं मन द्वारा दिखने वाले दृश्य का विश्लेषण व विचार किया जाता है, तब दृश्य गायब होकर केवल चैतन्य ब्रह्म ही रहता है।

जैसे मिट्टी पहले मिट्टी रूप में रहती है, घड़ा बनने पर भी मिट्टी ही रहती है, विनाश पर भी मिट्टी ही शेष रहती है। सोना, जब आभूषण बनता

है, तब भी सोना ही रहता है, आभूषण के गलने पर भी सोना ही रहता है। इसीप्रकार चैतन्य भी जगत् रूप में विचारहीन मन को दिखता है, तब भी वह त्रिकाल में अद्वैत, अपरिवर्तनीय, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्म ही रहता है। चैतन्य में माया के कार्य जगत आदि का अभाव है। इसी को परम आत्म-स्थिति कहते है, जो कि अज्ञान की अन्तिम अवधि है तथा माया की भी "अवधि" (**LIMIT**) है।

शिष्य:- माया का "फल" या प्रयोजन क्या है?

सदगुरूः- इसका फल इतना ही है कि वह निष्फल शून्य में गायब हो जाती है। आत्मज्ञानी पुरूष इसे एक निरर्थक शब्द जैसे "खरगोश के सींग" समान व्यर्थ मानता है।

शिष्य:- यदि ऐसी बात है तो सभी इस पर क्यों सहमत नहीं है?

सदगुरूः- अज्ञानी माया को सत्य मानता है। विवेकी एवं विचारवान लोग इसे अवर्णनीय कहते है। ज्ञानी महापुरूष इसे अस्तित्वहीन "खरगोश के सींग" के समान कहते है। इसप्रकार माया तीन तरह से जानी जाती है। सभी अपने स्तर के अनुसार बोलते है।

शिष्य:- पर अज्ञानी इसे क्यों सत्य समझता है? क्या खास बात है?

सदगुरूः- यदि शिशु से कहो कि बाहर अन्धेरे में मत जा भूत है, तो डर जायेगा कि सत्य कहा जा रहा है। इसीप्रकार अज्ञानीजन माया से भ्रमित है, उसे सत्य समझते है। जो सद्गुरू व सत्शास्त्र के उपदेश-प्रकाश में ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप तथा मिथ्या जगत के स्वरूप के बारे में तहकीकात करते है, तब माया इन दोनों (आत्मा व जगत) से भिन्न तथा अनिर्दिष्ट स्वरूप की है,

तो कहते है, वह अनिर्वचनीय है। जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा अपने स्वरूप में स्थित है, कहते है कि “जिसप्रकार पुत्री द्वारा माँ को जलाकर भस्म किया जाता है, वैसे ही ज्ञान द्वारा माया जो कि त्रिकाल में नहीं थी, भस्मीकृत किया जाता है।”

शिष्य:- ऐसा कैसे कहा जाता है कि माया रूपी माँ को ज्ञान रूपी बेटी जलाकर भस्म कर देती है?

सदगुरूः- जब ध्यान व निदिध्यासन किया जाता है, तब माया अत्यन्त पतली होकर ज्ञान (एकाग्रता रूपी मनन) में बदल जाती है। इसप्रकार ज्ञान माया से पैदा हुई, अतः उसकी पुत्री है। विचार, मनन, निदिध्यासन के दिनों में, अब तक विचार के अभाव में पुष्ट व मजबूत हुई माया, अन्तिम सांसें गिनने लगती है। जैसे केकड़ी अपनी ही मृत्यु के लिए संतान की उत्पत्ति करती है, वैसे ही माया के अन्तिम दिनों में अपने ही नाश के लिए वह ज्ञान को पैदा करती है। तुरन्त ज्ञान रूपी बेटी अपनी माँ माया को जला डालती है।

शिष्य:- अपनी ही संतान से कहीं माँ-बाप की मृत्यु संभव है?

सदगुरूः- हाँ! बाँस के वन में छोटे बाँस के पौधे हवा के कारण हिलकर आपस में रगड़ते है, जिससे आग उत्पन्न होकर उनके माँ-बाप रूपी सारे बाँसों को नष्ट कर देती है। इसीप्रकार ज्ञान से माया जल जाती है, माया वास्तव में नाममात्र या शब्दमात्र है। नाम ही बताता है कि वह मिथ्या है-”या” न विद्यते सा अविद्या” तथा “या मा सा माया” जो नहीं है, वह माया है। अतः निष्फल ही गायब हो जाना, उसका “फल” है।

शिष्यः- गुरूदेव! माया तो ज्ञान में बदल जाती है, अतः निष्फल तो नहीं गायब हो जाती है।

सदगुरूः- यदि ज्ञान, जो माया का सुधारित रूप है। सत्य होता, तब माया को भी सत्य कहा जा सकता था, पर ज्ञान भी मिथ्या है, अतः माया भी मिथ्या है।

शिष्यः- ज्ञान को हम कैसे मिथ्या कह सकते है?

सदगुरूः- जैसे बाँस के वृक्षों को जलाकर आग अन्त में स्वयं भी बुझ जाती है। जैसे निर्मली बूटी जल की अशुद्धियों को लेकर स्वयं (जल को शुद्ध करके) भी नीचे बैठ जाती है। इसीप्रकार ज्ञान भी अज्ञान का नाश करके स्वयं गायब हो जाता है। चूंकि अन्त में माया का कोई अंश नहीं रहता है, अतः माया का फल भी मिथ्या ही है।

शिष्यः- यदि ज्ञान भी अन्त में निरस्त हो जाता है, तो अज्ञानजनित इस संसार की निवृत्ति कैसे होगी?

सदगुरूः- अज्ञानजनित संसार भी ज्ञान सरीखे मिथ्या ही है। एक मिथ्या वस्तु से दूसरी मिथ्या वस्तु की निवृत्ति कैसे होगी?

शिष्यः- फिर उसकी निवृत्ति कैसे होती है?

सदगुरूः- जैसे स्वप्न में तुम्हें भूख लगती है, तो स्वप्न-भोजन करने से भूख मिट जाती है। भूख, तुम, भोजन सभी मिथ्या है, फिर भी काम बन जाता है। इसीप्रकार ज्ञान मिथ्या होने पर भी मिथ्या बन्धन व मिथ्या मुक्ति के विचारों को जो कि अज्ञानजनित है, मिटाने में सक्षम है। जिस तरह से अन्धेरें में रस्सी में सर्प दिखा एवं प्रकाश में सर्प गायब हुआ। दोनों में सर्प की मौजुदगी तथा

गायब होना समान रूप से मिथ्या है क्योंकि सर्प था ही नहीं। इसीप्रकार ब्रह्म में बन्धन-मुक्ति भी मिथ्या है।

अन्त में यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैत ब्रह्म ही परम सत्य है, अन्य सब त्रिकाल में अस्तित्वहीन है। श्रुति भी कहती है कि “न कुछ बना, न बिगड़ा-न बन्धन, न मुक्ति, न साधक न गुरू, यही परमार्थ सत्य है।” इसे जीवित रहते हुए जानना, स्वरूप में स्थित रहना ही जीवनमुक्ति है।

साधक उपर्युक्त दोनों अध्यायों को सावधान होकर पढ़ें समझे अध्यारोप के अपवाद के लिए वह विचार प्रक्रिया कैसे करनी है, इसे जानें, उसमें साधन चतुष्टय हो, तभी सफलता मिलती है। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षता ही साधन चतुष्टय है।

.

-: अध्याय तीन - साधना :-

सद्गुरूः- हे पुत्र! तुम्हारे इस प्रश्न का "कि जो सच्चिदानंद स्वरूप चैतन्याभास के लिए कोई संसार कैसे भ्रम में ड़ाल सकता है ?" इसके उत्तर में ज्ञानी महापुरूष इसप्रकार उत्तर देते है कि "जब चैतन्य की शक्ति माया अप्रकट रहती है, तब वह बीज रूप में विद्यमान रहती है, वही जब प्रकट होती है, तब वह "मन" का रूप ले लेती है। यह जो माया का प्रकट रूप, वृत्तियों का समूह मन है, वही इस घोर संसार को उत्पन्न करने वाला शाखा या अंकुर है। यह पूरी क्रिया अकथनीय, वर्णनातीत है।

शिष्य:- किसने इसप्रकार मन को अकथनीय ठहराया है?

सद्गुरूः- श्रीराम के प्रति गुरू वशिष्ठजी ने कहा था कि "अद्वैत चैतन्य" में एक "भाव" उठता है, जो कि ज्ञानात्मक चेतन जो कि सत्य है तथा अज्ञानात्मक जड़ है, जो कि मिथ्या है, इन दोनों से भिन्न एक शक्ति है, जिसकी यह विशेषता है कि यह क्षण भर में सृजन कर संस्कारों के बीज को फोड़कर, प्रक्षेपित करके विभिन्न दृश्य, वस्तु, व्यक्ति दिखा दें, जड़-चेतन को एक कर दें (जबकि जड़, चेतन दोनों वही है) तथा हमेशा चंचल, अस्थिर रहे, उस तत्व को "मन" कहते है। इसीलिए कहा जाता है कि इस जादू ऐंद्रजालिक शक्ति को परिभाषित नहीं कर सकते है। अतः अकथनीय है, जब चिदाभास पर (जो कि अपरिवर्तनीय है) चंचल मन को थौंपा जाता है, तब चिदाभास भी चंचल, अस्थिर लगता है।

शिष्यः- यह कैसे होता है?

सद्गुरूः- जैसे कोई ब्राह्मण शराब के नशे में विचित्र व्यवहार करता है, वैसे ही स्वरूप से अपरिवर्तनशील होते हुए भी चैतन्याभास मन से तादात्म्यता कर जीव रूप से दिखता है तथा इस संसार के दुःख-कष्टों से कराहता हुआ नजर आता है। अतः चैतन्याभास का संसार मन से अलग नहीं है। श्रुति का कथन भी यही है।

यह आवश्यक है कि चित्त ही संसार होने से उसका परीक्षण, खोज, विचार करना चाहिए। मन की वृत्तियाँ जो कि वस्तुओं के अलग-अलग रूप धारण करती है, जिनसे तादात्म्य करने से आभास में भी परिवर्तन नजर आता है, जबकि वास्तविकता इससे भिन्न हैं इस शाश्वत रहस्य को मैत्रैयनीय उपनिषद् ने उद्घाटित किया है, इस श्रुति के अतिरिक्त अपने अनुभव तथा अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से भी दृढ़ किया जाता है।

शिष्यः- सर्वप्रथम यह बताने की कृपा करें कि अपने अनुभव से यह कैसे दृढ़ होता है?

सदगुरूः- जब मन गहरी निद्रा में निःशब्द, शांत रहता है, तब आभास भी स्थिर संसाररहित रहता है, उसके बाद जब जाग्रत व स्वप्नावस्था आती है, तब ऐसा लगता है कि आभास बदल गया व संसार जाल में फंस गया। सभी का यह अनुभव है। सब श्रुति, स्मृति, तर्क, युक्ति एवं अनुभव से यही उजागर होता है कि यह दृश्यमान संसार मन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कोई भी कैसे इस खुले तथ्य का निराकरण कर सकता है?

शिष्यः- ठीक है ! पर मन का संग आभास को किस प्रकार संसार में उलझा देता है?

सदगुरूः- पहले भी मैंनें कहा था कि मन का स्वरूप ही ऐसा है कि हमेशा यह-वह सोचते रहना, संकल्प-विकल्प करते रहना उसका स्वभाव है। इसकी दो वृत्तियाँ है, "अहं एवं इदं वृत्ति" इसमें अहंवृत्ति हमेशा एक होता है- "मैं का भाव" परन्तु इदंवृत्ति उस क्षण में विद्यमान त्रिगुण (सत्व, रज, तम) के अनुसार गुणात्मक रूप से बदलती रहती है।

शिष्यः- इस प्रकार का कथन किसी और महापुरूषो के द्वारा भी किया गया है?

सदगुरूः- अवश्य! श्री विद्यारण्य स्वामी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पंचदशी" में उल्लेख किया है कि मन में त्रिगुण कम-ज्यादा होकर रहते है। उन गुणों के अनुसार मन बदलता रहता है। सत्वगुण प्रधानता से वैराग्य, शांति, सर्वकल्याण की इच्छा आदि रहते है। रजोगुण की अधिकता से वासना, क्रोध, लोभ, भय, कार्यो का विस्तार करना, हमेशा सांसारिक कार्यो में रहकर व्यस्त रहना आदि व्यक्त होता है। तमोगुण के प्रभाव से आलस्य, भ्रम, निद्रालु, कान्तिहीनता, अधिक निंद्रा-खाना-भोग-दीर्घसूत्री, मन्द बुद्धि की प्रचुरता अभिव्यक्त होते है।

इसप्रकार स्वरूप से नही बदलने वाले शुद्ध चैतन्य का आभास होते हुए भी, वह जब त्रिगुणों से प्रभावित चंचल, अस्थिर तम से तादात्म्य करता है, तब नाना प्रकार के कष्ट, तापत्रय में फंस जाता है-ऐसा दिखता है।

शिष्यः- पर यह कैसे संभव होता है? कुछ स्पष्ट करने की कृपा करे।

सदगुरूः- जल स्वभावतः ठंडा, बेस्वाद (**TASTELESS**) होता है, पर संगदोष से गर्म, मीठा, कडुआ, खट्टा लगता है, इसीप्रकार आभास भी स्वरूपतः सच्चिदानंद होते हुए भी मन की अहंवृत्ति जो कि तादात्म्यता की शक्ति से भरपूर है, उससे मिलकर भिन्न प्रकार के दिखता है। ठण्डा जल आग की उपस्थिति में गर्म होता है, वैसे ही अहंवृत्ति के कारण सुख-दुःख पूर्ण अंहकार (**EGO**) बन जाता है। जिस प्रकार जल का स्वाद संग के कारण बदलता है, वैसे ही आभास भी "इदंवृत्ति" जो उस समय मौजुद रहता है, उसके गुणो के अनुसार कभी वैराग्यपूर्ण, शांत, सद्गुणयुक्त या कभी भोगासक्त, कामी, क्रोधी, लोभी अथवा मन्दमती, आलसी के रूप में दिखाई देता है।

श्रुति का कथन है कि प्राण, मन, बुद्धि, पंचभूत, काम, क्रोध, वैराग्य आदि से मिलकर उन-उन जैसे ही आभास प्रतीत होने लगता है।

मन के साथ तादात्म्यता कर, चिदाभास जीव के रूप में बदले हुए नजर आता है जो कि अंतहीन संसार पीड़ा में डूबे हुए अंसख्य भ्रम जैसे मैं-तू-यह-मेरा-तेरा आदि से मोहित होकर तड़पते हुए दिखाई देता है, जबकि वह वास्तव में अलिप्त है।

शिष्यः- अब तो यह संसार-भ्रम जीव पर आ पड़ा है, तो उससे वह कैसे छूट सकता है?

सदगुरूः- एक ही उपाय है। सम्पूर्ण मनःस्तब्धता (**STILLNESS OF MIND**) पूर्ण रूप से विचारों की शांति, निस्तब्ध मन के द्वारा निश्चय ही यह

संसार वृक्ष शाखा, प्रशाखा, जड़ समेत गायब हो जाता है अन्यथा इस संसार प्रवाह का अंत नहीं है। उपर्युक्त युक्ति के अलावा कल्प कोटि काल में भी इस संसार का नाश संभव नहीं है। यह ध्रुव सत्य है।

शिष्य:- गुरूदेव! ऐसा कोई सरल उपाय भी है क्या, जो मन की निःस्तब्धा के अलावा भी हो, इस संसार भ्रम को नष्ट करने के?

सदगुरू:- नहीं, हरगिज नहीं। कोई अन्य उपाय नहीं है। न वेदपाठ से, न शास्त्राध्ययन से, न तप-जप से, न सत्कर्म, व्रत, दान, रहस्य, मंत्रोच्चारण से, पूजा-पाठ या अन्य कोई भी उपाय से, इस संसार वृक्ष को समूल नष्ट कर सकते हो। केवल एक ही है-मन की निःस्तब्ध, निःशब्द स्थिति ही इस उद्देश्य को पूर्ण कर सकती है, कोई अन्य युक्ति नहीं है।

शिष्य:- परन्तु मैंनें शास्त्रों में देखा है व सुना भी है कि ज्ञान द्वारा ही संसार नाश होता है, पर आप कहते कि मन की निःस्तब्धता ही यह काम करता है। इस संदेह का निवारण कृपया करें?

सदगुरू:- बेटा ! शास्त्रों में वर्णित ज्ञान, मुक्ति आदि का इशारा यही निःशब्द, निःस्तब्ध स्थिति की ओर ही है।

शिष्य:- इसप्रकार का कथन किसी और महापुरूष द्वारा भी हुआ है?

सद्गुरू:- हाँ । श्री वशिष्ठ जी ने कहा है कि-"अभ्यास के द्वारा ही जब मन स्तब्ध, सजग रहता है, तब सारा संसार भ्रम समूल गायब हो जाता है। जैसे जब तक मंदराचल द्वारा क्षीर समुन्द्र का मंथन हो रहा था, तब तक समुन्द्र विक्षुब्ध होकर उत्ताल तरंगों से पूर्ण था परन्तु जैसे ही मंदराचल पर्वत हट

गया वैसे ही स्तब्ध साफ, शांत हो गया, वैसे ही जब मन निर्विचार, सजग, निःस्तब्ध अवस्था में पहुँचता है तब संसार भ्रम हमेशा के लिए शाश्वत रूप से निरस्त हो जाता है।

शिष्य:- अच्छा तो इस मन को किस प्रकार निःस्तब्ध करें?

सद्‌गुरूः- वैराग्य के द्वारा, जो-जो आपको प्रिय है, जिसमें आसक्त है, उन्हें विचारपूर्वक हटा देने से ही अपने प्रयत्न से तुम इस काम को सरलता से कर सकते हो। परमानन्द की प्राप्ति या अपरोक्ष अनुभूति तभी संभव है, तब पूरी दुनिया को मायामय दृश्यमात्र मिथ्या समझकर पूर्णतः पोंछ देते हो, अपने मन से। पर इस मन को मनन पूर्वक गुरूपदेश से प्राप्त परोक्ष ज्ञान से, प्रक्षालित कर सब कुछ ब्रह्म ही है या सब मैं ही हूँ, इसप्रकार के निदिध्यासन से संभव है, अन्यथा शांत मन की उपस्थिति व सहायता के बिना अज्ञानी व्यक्ति जितना ही संघर्ष करें या शास्त्रों के गहरे समुन्द्र में गोता लगाए, तब भी मुक्ति नहीं पा सकता।

केवल मन तभी “मृत” कहा जाता है, जब योगाभ्यास के द्वारा संस्कारों के जल जाने से वायुरहित स्थान में रखे प्रदीप के समान निश्चल रहता है, मन की मृत्यु को ही अतिउच्च, सर्वाधिक उपलब्धि कहते है। सब वेदशास्त्रों का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि मन की निःस्तब्धता एवं सजगता ही मुक्ति है।

मुक्ति के लिए न धन काम दे सकता है, न बन्धु-बांधव, मित्र, न हाथ-पैर, इन्द्रियों के कर्म, पुण्य क्षैत्र, तीर्थो का सेवन, न ही पवित्र नदी में स्नान, स्वर्गादि प्राप्ति, जप-तप ही कोई सहायता कर सकता है। केवल मन की

सजग-निःस्तब्धता मात्र मुक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता है, इसी सिद्धान्त की पुष्टि अनेक पवित्र पुस्तकों में भी उल्लेख है कि मनोनाश से ही मुक्ति संभव है। योग वाशिष्ठ में कई स्थान पर इस सिद्धान्त को जोर देकर पुनः-पुनः कहा गया है कि आत्मानंद केवल मन को सम्पूर्ण नष्ट करने से ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि यह मन ही संसार भ्रम का मूल कारण है तथा सारे दुःखों का जड़ है।

यदि इस संसार रूपी भूलभूलैया से बाहर निकलना चाहते हो तो पवित्र उपदेश जो दिया जा रहा है, उसको युक्ति एवं मनन द्वारा विचारकर, अपरोक्ष ज्ञान से मन का पूर्ण रूप से नाश करो। इसके अतिरिक्त इस आवागमन चक्र को पूर्ण विराम देने तथा आत्यंतिक मुक्ति पाने का और कोई उपाय है क्या ? कदापि नहीं। जब तक स्वप्नद्रष्टा जागता नहीं है, तब तक शेर को सामने देखकर उत्पन्न अतीव भय, कंपन आदि या अन्य स्वप्न घटनाओं का अन्त नहीं हो सकता है। जब तक मन गल नहीं जाता है, तब तक संसार दुःख, तापत्रय, भयानक पीड़ा का अन्त नहीं हो सकता है। बस एकमात्र यही काम करना है कि मन को येन-केन-प्रकरेण निःस्तब्ध करों, यही इस जीवन की परम उपलब्धि है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! इस मन को कैसे मौन, निःस्तब्ध अवस्था में लाया जाए?

सद्गुरूः- केवल सांख्य द्वारा। सांख्य वह प्रक्रिया है, जिसमें निरन्तर आत्म निरीक्षण के साथ-साथ मनन सतत सजगता हो। ज्ञानी महापुरूषो का कथन है कि विचार न करने से ही मन पनपता है एवं मननात्मक शास्त्रोंक्त विचार से ही मनोनाश संभव है।

शिष्य:- कृपया यह बताए कि यह मननात्मक विचार प्रक्रिया क्या है ?

सद्गुरू:- शास्त्रों में उल्लेखित श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि या शांति ही इस सांख्य प्रक्रिया का स्वरूप है। यही है एकमात्र साधन, जिससे मन निःस्तब्ध होता है, इसके अतिरिक्त एक और विकल्प भी है, वह है योग।

शिष्य:- योग क्या है?

सद्गुरू:- सविकल्प (गुण सहित) ध्यान, जिसमें शुद्ध चैतन्य का गुण सहित किसी धारणा के रूप में ध्यान करना।

शिष्य:- इस विकल्प विधि कहाँ उल्लेखित है व कैसे?

सद्गुरू:- श्रीमद् भागवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा था कि जो सांख्य द्वारा प्राप्त होता है, वही योग द्वारा भी संभव है। वही ज्ञानी है जो यह जानता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं का परिणाम समान ही है।

शिष्य:- पर यह दोनों समान प्रक्रिया कैसे है व परिणाम समान कैसे?

सद्गुरू:- अन्तिम परिणाम या अवधि दोनों के लिए एक ही है, क्योंकि दोनों से मन की निःस्तब्धता व सजगता की स्थिति बनती है। यही शान्त, आनन्दमय स्थिति है। किसी भी मार्ग से जाओ, सांख्य या योग, परन्तु अन्तिम फल उच्च परमात्म स्वरूप स्थिति ही होता है।

शिष्य:- यदि दोनों मार्गो से प्राप्त फल एक ही है, तो किसी एक से ही अपने अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, तो दो मार्गो का जिक्र क्यों किया जाता है?

सद्गुरू:- इस दुनिया में सत्य के खोजी साधकों की अलग-अलग श्रेणी होती है। उनके विकास की स्थिति को ध्यान में रखकर तथा करूणावश ही श्री

भगवान ने उनके सामने चुनाव का अवसर देते हुए दो मार्गो के बारे में बताया है।

शिष्य:- अच्छा तो सांख्य मार्ग का अधिकारी कौन है?

सद्गुरू:- केवल वही इस मार्ग को अपनाकर सफल हो सकता है, जो साधन चतुष्टय सम्पन्न है, अन्य लोग नहीं।

शिष्य:- वह क्या है ? कृपया बताएं।

सद्गुरू:- ज्ञानी महापुरूषो का कथन है कि जो व्यक्ति, सत्य-असत्य की छानबीन करने की क्षमता रखता है, इह पर यानि यहाँ इस लोक की तथा इससे अन्य सूक्ष्म लोक के विषयभोगों की इच्छा नहीं रखता है, कर्माधिक्य के प्रति अरूचि रखता है एवं मोक्ष की प्रबल कामना रखता है, तो ऐसे व्यक्ति को साधन चतुष्टय सम्पन्न कहा जाता है। इन चारों साधनों से जो सम्पन्न नहीं है, वह कितना भी प्रयत्न करें पर इस सांख्य मार्ग में सफलता नहीं पा सकता है। अतः ये उपर्युक्त चार साधन इस आत्मनिरीक्षण मार्ग के लिए अनिवार्य एवं अत्यावश्यक है।

प्रारम्भ में यह जानकारी आवश्यक है कि उपर्युक्त चारों साधनों की विशेषताएं क्या-क्या है ? इन्हें पहले वर्णित पाँच बिन्दुओं के प्रकाश में परिशीलन करेगें, यथा हेतु, स्वभाव, कार्य, अवधि तथा फल। अब इसका विस्तृत विवरण दिया जाता है, ध्यान देकर सुनो।

“विवेक” प्रथम साधन है, जो केवल शुद्ध मन में ही उत्पन्न हो सकता है। उसका “स्वभाव” है कि विवेकवान के मन में दृढ़ निश्चय व भावना कराना कि ब्रह्म सत्य है एवं जगत मिथ्या है। यह दृढ़ भावना पवित्र अद्वैत

ग्रंथों के उपदेशो के पठन से बनती है। इसका "कार्य या प्रभाव" है, हमेशा इस सत्य वचन को ध्यान में रखना व याद करते रहना। इसकी "अवधि" तब तक है, जब तक स्थिर मन से इस तथ्य में दृढ़ रहता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब असत्य व मिथ्या है। इसका "फल" है, वैराग्य रूपी दृष्टिकोण कि यह जगत मायामय व दोषपूर्ण है। "वैराग्य" का "कारण" भी यह दृष्टिकोण है कि मूलतः इस जगत में सब कुछ दुःखमय, असुख, अनित्य है। वैराग्य का "स्वरूप" है कि इस जगत के प्रति उदासीन रहकर किसी के प्रति या किसी वस्तु के प्रति आसक्ति का न होना। इसका "प्रभाव" है, सर्व विषयभोगों के प्रति घृणा जैसे वांत (उल्टी) पदार्थ हों। इसकी "अवधि" तब तक है, जब तक व्यक्ति इस लोक व परलोक के सभी सुखों को नरक, प्रज्वलित अग्नि या उल्टी जैसा जुगुप्सा, उपेक्षा या तिरस्कार (**DISGUST & CONTEMPT**) से नहीं देखता हो।

योगाभ्यास के फलस्वरूप "उपरति" उत्पन्न होती है। "उपरति" अर्थात् कार्य का विस्तार न करना, शरीर निर्वाह के लिए, जितने न्यून कार्यो की जरूरत है, उतना ही करना तथा अन्त में कार्यो का पूर्ण विराम देना। अष्टांग योग के अभ्यास से तीव्र उपरामता बनती है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि (सविकल्प) तथा शांति को ही योग के आठ अंग कहते है। उपरति का "स्वभाव या स्वरूप" है, मनः नियंत्रण। उसका "कार्य या प्रभाव" है, सकाम लौकिक कार्यो से विरक्ति या विराम। इसकी "अवधि" है, कार्यो के प्रति अरूचि व स्थगन से विश्व के क्रियाकलापों की विस्मृति जैसे सब कुछ सपना हो। इसका "फल" है मुमुक्षुता। मोक्ष की प्रबल इच्छा की हेतु है, सत्संग, ज्ञानी-महापुरूषो का सानिध्य-संग,

उनके जीवन को आदरपूर्वक देखना, प्रेरणा लेना आदि। मुमुक्षुता का “स्वरूप” है मोक्ष के अतिरिक्त अन्य चाह न रखना अर्थात् मोक्ष की इच्छा को वरीयता क्रम में सर्वोपरी रखना। इसका “प्रभाव” या “कार्य” है, गुरू के समीप रहकर सत्संग करना, उपदेशो को ग्रहण करना, मुमुक्षुता की “अवधि” है, जब तक व्यक्ति सर्वशास्त्रों का अध्ययन, वादविवाद-शास्त्रार्थ करना, धार्मिक कर्मकाण्ड जैसे यज्ञयागादि में रूचि लेना आदि सभी कार्यो का त्याग नहीं कर जाता है तथा केवल स्वयं के निरीक्षण एवं स्वस्थिति को ही अत्यन्त महत्व देता है, इसकी “अवधि” कहलाती है।

जब विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता अपनी अन्तिम अवधि पर पहुँच जाते है, तब साधन चतुष्टय सम्पन्नता को पूर्ण माना जाता है।

यदि कोई उपर्युक्त चारों में से किसी एक या दो में ही पूरे है, सब में नहीं तो मृत्यु के बाद स्वर्गादि प्राप्त करेगें। यदि चारों में पूरे है तो वे शीघ्र ही पूरी क्षमता से सांख्य विधि अपना कर आत्मनिरीक्षण पद्दति में सफल होगें। अतः चारों साधनों में सम्पन्न ही पा सकते है, अधूरे व्यक्ति नहीं। यदि एक भी साधन अपूर्ण रह जाता है तो वह भी बाधा उत्पन्न कर सकता है। इसका खुलासा करता हूँ, सुनो।

यदि वैराग्य नहीं विकसित है पर विवेकपूर्ण है, तब भी रास्ते का अवरोध नहीं हटता है। देखो, कितने विद्वान, वेदान्त शास्त्र में पाण्डित्य प्राप्त कर, प्रवचनादि, शिष्यों को समझाना आदि द्वारा यशस्वी हुए है। उनमें वैराग्य अविकसित रहता है। अतः वे इस सांख्य विधि को जानकर भी कार्य रूप में नहीं ला पाते हैं। अतः बिना वैराग्य के केवल विवेक से काम नहीं बनेगा।

शिष्यः- यह मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि कैसे प्रकाण्ड विद्वान वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता भी इस सांख्य विधि को कार्य रूप में नहीं ला पाते है।

सद्गुरूः- बेटा! वे शास्त्रज्ञ वेदान्त शास्त्र तथा अन्य विद्याओं में कुशल होते हुए भी और शिष्यों को वेदान्त विद्या पढ़ाते-समझाते रहने पर भी कामनाराहित्य, वैराग्य के अभाव में उन सिद्धान्तों को साधना के रूप में परिणत नहीं कर पाते है, जो सिखा रहे है, उन्हें खुद अभ्यास नहीं करते है।

शिष्यः- तो फिर वे क्या करते है?

सद्गुरूः- जैसे तोता सीखी हुई चीजों को बिना समझे बकता रहता है, उसी प्रकार वेदान्त सिद्धान्तों को बिना अनुभव किए भाषण देते रहते है।

शिष्यः- तो वेदान्त क्या शिक्षा देता है?

सद्गुरूः- वेदान्त मनुष्यों को शिक्षा देता है कि अद्वैत ब्रह्म के अतिरिक्त शेष सब दुःख पीड़ा से लदा है, अतः वह सभी विषयभोगों की कामना छोड़ दे, राग-द्वेष से मुक्त रहे, पूर्ण रूप से हृदय-ग्रन्थि को काट दें अर्थात् तादात्म्यता के कारण बने अंहकार के कारण दिखने वाले मैं-तू-वह-यह-तेरा-मेरा को साधना द्वारा काट दें। मैं-मेरापन की धारणा छोड़े, द्वंद्वों को तितिक्षापूर्वक सहन करते हुए शीतोष्ण, सुख-दुःख से उदासीन रहे, समता रूपी ज्ञान में स्थित रहे तथा कहीं कोई भेदभाव नहीं करें, हमेशा ब्रह्म के प्रति सजग रहें तथा उसी आत्मानंद में स्थित रहें-इसीतरह की शिक्षा वेदान्त से मिलती हैं।

वेदान्त को कोई अच्छी तरह से समझ लें, पठन कर लें, तब भी यदि वैराग्य का अभ्यास नहीं करता है, तो उसकी विषयभोगों के प्रति इच्छा

जाती नहीं है। मनोहर वस्तुओं के प्रति आकर्षण बरकरार रहता है तथा उनकों पाने की लालसा नहीं जाती है। चूंकि कामनाओं की रोक न लगने के कारण रागद्वेष, अहंकार (**EGO**), मैं-मेरापन का भाव तथा संग्रह की वृत्ति मिथ्या आदर्श (**FALSE VALUES**) द्वंदों जैसे सुख-दुःख आदि से विचलित होना, सुखों की चाह, दुःखों से भागने की प्रवृत्ति आदि गायब नहीं होते है। यद्यपि कोई इन शास्त्रों को पूर्ण रूप से पढ़ा है, पर जब तक इनको प्रयोग में नहीं लाता है, तब तक उसने कुछ जाना या सीखा नहीं है। वह सिर्फ एक तोते की तरह यही रटता रहेगा कि "ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है।"

शिष्यः- आश्चर्य है ! वह विद्वान ऐसा क्यों हो जाता है?

सद्गुरूः- जानकार लोग कहते है कि जैसे कुत्ता अभक्ष्य भोजन, मल आदि खाकर खुश व संतुष्ट होता है, उसीप्रकार यह भी बाह्य विषयभोगों से प्रसन्न हो जाता है। यद्यपि वह विद्वान अनवरत वेदान्त शास्त्र का पठन, पाठन करता रहता है तथापि वह एक तुच्छ कुत्ते से बेहतर नहीं है।

सारे शास्त्रों में पारंगत होने पर एवं शास्त्रार्थ करने में निपुण, कुशल होने पर वे धीरे-धीरे कपटी, मिथ्याचारी बन जाते है, कि मैं सबकुछ जानता हूँ, सिद्ध हूँ, आदर के पात्र हूँ। वे तो वास्तव में गधे के समान है, जो कठिन घुमावदार रास्तों से होकर अपनी पीठ पर भारी बोझ लेकर चलते रहते है, वे तो राग-द्वेष से भरे रहकर अपने को महापुरूष मान लेते है, उन्हें कोई भी अद्वैत सिद्धि प्राप्त व्यक्ति नहीं समझे। इसीप्रकार से वशिष्ठ जी ने भी रामजी को अनेक बातों से वैराग्यहीन के बारे में समझाया था।

शिष्य:- क्या पहले भी ऐसे कोई हुआ है, विद्वान होते हुए भी शास्त्रों का अभ्यास कर अपने जीवन में नहीं उतारा हो?

सद्गुरूः- ओह ! बहुत सारे ऐसे हुए है। हम पुराणों में भी पढ़ते है कि एक ब्राह्मण, ब्रह्म शर्मा था, जो वेद-वेदांतों से अच्छा पारगंत होने पर भी, अनेक सिद्धियों से युक्त होने पर भी, सीखी हुई बातों को कार्यान्वित नहीं किया, पर उन सिद्धान्तों के बारे में दूसरों को पढ़ाता रहता था। वह राग-द्वेष से भरा रहकर, लोभ के वशीभूत होकर चरित्रहीन बना तथा अपनी इच्छानुसार मनमानी करने लगा था तथा भोगों में लिप्त रहता था। मृत्यु के बाद वह रौरव नरक में गया। इसीतरह कई लोग इसप्रकार के मार्ग अपनाकर वासना के कारण उसीतरह के परिणाम को प्राप्त हुए।

अभी भी देखो, कितने पण्डित, विद्वान, घमण्ड, ईष्या, द्वेष से भरे हुए व्यवहार करते हैं, यह सत्य है कि वेदान्त पठन से व्यक्ति विवेकवान होता है परन्तु वैराग्य के बिना ऐसा विवेक व्यर्थ है तथा सांख्य का इच्छित परिणाम नहीं मिलता है।

शिष्य:- अच्छा ! तो फिर जिसका विवेक जागृत है, वैराग्यवान भी है, तो काम चल जायेगा।

सद्गुरूः- नहीं! नहीं! कार्यविस्तार, व्यस्तता, जानबुझकर दायित्व बढ़ाना आदि दूर हुए बिना इस मार्ग पर सफलता नहीं मिल पाएगी। व्यस्तता के कारण, कार्य की अधिकता से व्यक्ति आत्मविचार में संलग्न नहीं हो पाता है, फिर सफलता की तो बात ही नहीं करनी है।

शिष्यः- मान लिजिए कि एक व्यक्ति अत्यन्त वैराग्यवान है, कोई दायित्व नहीं है, कार्य का विस्तार भी नहीं करता है, वह तो इस मार्ग पर सफल हो जायेगा ?

सद्गुरूः- पर मुमुक्षुता के अभाव में, उसके अन्दर से आत्मविचार की प्रेरणा ही नहीं उठती है तथा वह आत्मनिरीक्षण नहीं करेगा।

शिष्यः- फिर वह व्यक्ति करेगा क्या?

सद्गुरूः- इच्छारहित, शांत होने के कारण कुछ भी काम नहीं करेगा, उदासीन, निरपेक्ष पड़ा रहेगा-ऐसे ही जीवन व्यतीत कर लेगा।

शिष्यः- यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जिस पर दायित्व है, कार्याधिक्य भी है, पर परम वैराग्यवान है, शास्त्रों को नहीं जानता है, तो क्या वह भी इस मार्ग के लिए लायक नहीं है?

सद्गुरूः- जब तक कार्याधिक्य है-व्यस्तता है, तब तक शांति नहीं रह सकती है। वैराग्य के कारण वह व्यक्ति सभी प्रकार के भोगों से वितृष्णा रखता है। घर, धन, कला आदि किसी में भी सुख अनुभव नहीं करने के कारण अन्त में सब छोड़कर जंगल या एकान्त, जनरहित स्थान में चला जाता है तथा विवेक के अभाव में निष्फल तपस्या करने लग जाता है-राजा शिखरध्वज इसतरह की स्थिति का उदाहरण है। कुछ लोग पंचाग्नि तापते है, काँटें पर बैठते है, घोर देहपीड़ा में लग जाते है।

शिष्यः- क्या ऐसे भी लोग हुए है, जो इन चारों में केवल तीन प्राप्त करके आत्मविचार में लग गये हो ?

सद्गुरूः- नहीं, सभी प्रकार की तपस्या के लिए वैराग्य आवश्यक है तथा तपस्वियों का मन भी एकाग्र रहता है, पर बिना मोक्ष की प्रबल इच्छा के वे आत्मविचार में नहीं उतर पाते हैं।

शिष्य:- फिर वे क्या करते है?

सद्गुरूः- उनकी स्थिति बड़ी दयनीय होती है। बाह्यभोगों से नफरत करते है, मन एकाग्र है, तप में लगे रहने पर भी एक संदेह की स्थिति में रहते है। गहरी निंद्रा समान उनका ध्यान होता है, पर आत्मविचार रूपी सजगता उनके लिए बहुत दूर रहती है। रामायण में शरभंग ऋषि के बारे में उल्लेख है कि निरन्तर तपस्या (पेड़ से उलटे लटके रहने पर भी) के बावजूद स्वर्ग गये।

शिष्य:- क्या आत्मविचार से भी स्वर्ग प्राप्त होता है?

सद्गुरूः- हाँ व नहीं। आत्मविचार का लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति नहीं है, बल्कि मोक्षप्राप्ति है। आवागमन के चक्र से मुक्त रहता है, न कि एक स्तर से दूसरे स्तर की यात्रा करना। शरभंग जी से यही पता चलता है कि वे आत्मविचार में नहीं लगे थें, नहीं लग पाये थें। अतः चारों प्रकार के साधन आत्मविचार के लिए आवश्यक है।

केवल प्रबल मोक्ष की कामना से ही कोई इसमें नहीं लग सकता है, यदि अन्य तीन का अभाव हो तो! तीव्र, गहरी, मुमुक्षुता से वह आत्मविचार में प्रवृत्त हो सकता है, पर विवेक, वैराग्य, उपरति के अभाव में असफल रहता है। उसकी स्थिति ऐसी ही है, जैसे कोई लंगड़ा आदमी ऊँचे पेड़ पर लटके मधुमक्खी के छत्ते की ओर टकटकी लगाकर इच्छा करें कि मधु मिल जाए, वह पा नहीं सकता है तथा दुःखी रहता है। यदि वह किसी सद्गुरू के

पास पहुँचकर शरणागत होता है, तो गुरूकृपा व मार्गदर्शन से लाभान्वित हो सकता है।

शिष्य:- क्या कोई प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसमें इस तरह के व्यक्ति के बारे में उल्लेख है जो कि मोक्ष के प्रबल इच्छुक तो है, पर अन्य तीन साधनों की कमी से हमेशा दुःखी रहेगा?

सद्गुरू:- हाँ, सूत संहिता में इसतरह का उल्लेख है कि जो मोक्ष के इच्छुक तो है पर विषयभोगों को नहीं छोड़ सकता है, वह तो संसार रूपी जहरीला सर्प द्वारा डंसा गया है, उसके विष से बेहोश है। यही उस प्रामाणिक ग्रन्थ का कथन है।

श्रुति, युक्ति, अनुभव से यही निष्कर्ष निकलता है कि चारों प्रकार के साधन पूर्ण रूप से एक साथ हो तो ही आत्मविचार में सफलता मिल सकती है, अन्यथा एकाध के अभाव में विफलता ही हाथ लगेगी। हाँ, स्वर्गादि की प्राप्ति जरूर हो सकती है, क्योंकि पुण्य का फल स्वर्ग है।

शिष्य:- कुल मिलाकर, कौन इस आत्मविचार के लिए अधिकारी है?

सद्गुरू:- साधन चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति ही सही अधिकारी है, अन्य नहीं। चाहे वे वेदशास्त्रों के कुशल, सिद्धियों से युक्त, महान् तपस्वी, धार्मिक, व्रत, यज्ञादि में लगे रहने वाले हों, मंत्रवेत्ता हो, उपासक, दान-पुण्य में माहिर हो, तीर्थाटन में प्रवीण हो तो भी वे सांख्य मार्ग के अधिकारी नहीं है। जैसे वेदानुसार शुद्र नहीं लग सकते है, वैसे ही अनाधिकारी इस मार्ग पर नहीं आ सकते है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! यदि कोई प्रकाण्ड वेदान्तवक्ता हो, उसे भी साधन चतुष्टय के अभाव में अनाधिकारी कह सकते है, क्या?

सद्गुरू:- चाहे वह सारे शास्त्रों का वेत्ता हो या इनकों बिल्कुल नहीं जानता हो, पर साधन चतुष्टय के बिना वह अधिकार ही नहीं रखता है। श्रुति घंटाघोष करके कहती है कि “जिसका मन, सम है, शांत है, इन्द्रियाँ संयमित है, कार्य न्यून है, सहनशक्ति है, मुमुक्षु है” वही इसके लिए काबिल है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त गुण वाले ही अधिकारी है, अन्य नहीं।

शिष्य:- क्या यदि साधन चतुष्टय सम्पन्न है, तो भी उसकी क्षमताओं में भेद या विभाजन किया जाता है कि उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के है?

सद्गुरू:- नहीं! आत्मविचार के लिए कोई भेदभाव नहीं है-किसी भी जाति या वर्ण के हो, किसी भी आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या सन्यास) के क्यों न हों यदि किसी व्यक्ति में साधन चतुष्टय की सम्पत्ति पूर्णरूप से हो तो वह चाहे विद्वान साधक हो, पंडित हो, अनपढ़-गंवार हो, बालक-बालिका हो, जवान हो, वृद्ध हो, तपस्वी हो, चाण्डाल हो या नारी हो, वह इस आत्मविचार मार्ग जिसे सांख्य कहते है, में सफलता पा सकते हैं। यही वेद-शास्त्रों का अविवादित दृष्टिकोण है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! यह कैसे हो सकता है ? मुझे नहीं लगता है कि ऐसा कदापि संभव है। क्या एक विद्वान पंडित जो कि शास्त्रों के ज्ञान में निपुण है, उससे बेहतर स्थिति में अनपढ़ पुरूष, स्त्री, चाण्डाल हो सकते है, यद्यपि ये लोग साधन चतुष्टय से पूर्ण हो। ऐसा कैसा हो सकता है, पंडित तो इन सब से

ज्यादा अधिकार रखता है। आप फर्मा रहे है कि शास्त्राध्ययन से कोई अधिकारी नहीं बन जाता है, पर उनके अनुसार चलने से क्रियान्वित करने से अधिकार प्राप्त होता है। जो अनपढ़ लोग है, वे क्या क्रियान्वित कर सकते है, जिसके बारे में वे जानते ही नहीं है ? अतः एक अनपढ़ व्यक्ति उपर्युक्त मार्ग के लिए किसप्रकार अधिकृत हो सकता है?

सद्गुरूः- तुम्हारे सवाल के जवाब में तुमसे मैं पूछता हूँ कि बताओं एक शास्त्रज्ञ पंडित इस मार्ग के लिए कैसे अधिकृत होता है?

शिष्य:- वह इसप्रकार अधिकृत है कि शास्त्रोपदेश द्वारा उसे पता चलता है कि सकाम कर्म वर्जित है, कर्मो का भगवान के चरणों में समर्पित करना ही वांछनीय है। ऐसा करते-करते उसका मन शुद्ध होकर वैराग्यादि से सम्पन्न होता है, जो कि आत्मविचार के लिए अनिवार्य है। अब कृपया यह बताएं कि एक अनपढ़ व्यक्ति कैसे इसके लिए अधिकृत होता है?

सद्गुरूः- वह भी अधिकृत होता है, इस जीवन में अनपढ़ भले ही हो पर उसने पूर्व जन्म में शास्त्राध्ययन किया है, समर्पण किया है, मन को शुद्ध किया है, जिसके फलस्वरूप इस जन्म में प्रारम्भ से ही मन वैराग्यवान, विवेकयुक्त, मोक्ष का इच्छुक बन जाता है तथा वह सद्गुरू प्राप्ति से तीव्र गति से इस मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

शिष्य:- अच्छा ! मान गया, परन्तु एक संदेह है। यदि उसके पूर्व जन्म संस्कार जो पाण्डित्य व साधना से बने थें, इस जन्म में उभरकर उसे आत्मविचार मार्ग पर लगाते है, तो पूर्व जन्म में अर्जित पाण्डित्यादि के संस्कार क्यों नहीं इस जन्म में उभर पाते है?

सद्गुरूः- उसके कुछ पूर्वकृत कर्म, (पाण्डित्य को, उसके संस्कारों को उभरने से) बाधा उत्पन्न करते होगें तथा उस अध्ययन व साधना के फलस्वरूप उभरे सार वस्तु को ही अभिव्यक्त करता है।

शिष्य:- यदि पाण्डित्य की अभिव्यक्ति किसी पूर्व कर्म से रूकती है, तो उस अध्ययन से प्रेरित होकर किए गये साधनाक्रम की अभिव्यक्ति कैसे नहीं रूकती है?

सद्गुरूः- यद्यपि उसके विद्धता के संस्कार दब जाते है तथापि उसके परिश्रम का फल नष्ट नहीं होता है, बल्कि उसे इस आत्मविचार मार्ग के लिए सक्षम बनाकर छोड़ता है।

शिष्य:- मान लें, कि उसके विद्वता-संस्कार के दबने के साथ-साथ उसके साधना-संस्कार भी दब जाते हो, तो क्या होगा?

सद्गुरूः- तब उसका परिणाम एक पंडित व एक अनपढ़ के लिए समान ही रहेगा कि दोनों ही साधन चतुष्टय के अभाव में सांख्य मार्ग के लिए अनाधिकारी बनें रहेगें।

शिष्य:- नहीं ! क्षमा करें। ऐसा हो ही नहीं सकता! यद्यपि पंडित साधन चतुष्टय सम्पन्न न भी हो परन्तु शास्त्राध्ययन से प्राप्त ज्ञान से वह उसे अभ्यास में क्रियान्वित कर सकता है। इसप्रकार धीरे-धीरे अधिकारी बन सकता है। परन्तु जो अनपढ़ व्यक्ति पिछले जन्म में विद्वता अर्जित करने के बावजूद उस जन्म में सफल नहीं हो पाया था तथा इस जन्म में अवरोध के

कारण विद्वता के संस्कार फूट नहीं पाए, जो साधना की थी, उसके भी संस्कार पर बाधा पड़ी रही तो वह किसप्रकार इस मार्ग में सफलता पा सकता है?

सद्गुरूः- ऐसा नहीं है। अनपढ़ व्यक्ति जो मोक्ष पाने की तीव्र प्रबल इच्छा से तड़प रहा है, सीधे सद्गुरू के सानिध्य में पहुँचेगा, उनसे शास्त्रों के सार तत्व को समझकर, प्रामाणिक प्रयत्न से जी जान से साधना करके अन्त में सफल हो सकता है। जैसे कोई लौकिक अज्ञानी व्यक्ति, जो शास्त्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता है परन्तु स्वर्ग पाने के तीव्र इच्छुक है, गुरू के पास पहुँचकर उससे प्राप्ति का मार्गदर्शन हासिल करके, व्रत, पूजा, उपासना, संयम, नियम, दान-पुण्यादि को तत्पर होकर ईमानदारी से करके अन्त में स्वर्ग प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार एक अनपढ़ मुमुक्षु व्यक्ति भी सद्गुरू की कृपा एवं मार्गदर्शन से उतना ही लाभान्वित हो सकता है, जितना कोई विद्वान व्यक्ति अपने शास्त्रीय ज्ञान से प्राप्त करता है।

शिष्यः- कर्म, उपासना आदि धार्मिक क्रियाकलाप द्वारा जो फल मिलता है, वह व्यक्ति की तत्परता, प्रामाणिकता एवं तीव्रता के अनुसार होता है। इसीप्रकार यदि वह अनपढ़ व्यक्ति जो मुमुक्षु है, सद्गुरू के उपदेशानुसार ईमानदारी से साधना नहीं कर पाता है, तो वह भी पूर्णता का फल नहीं पा सकेगा। तो फिर?

सद्गुरूः- हर हालत में ईमानदारी, प्रामाणिकता, तत्परता एवं तीव्रता अतिआवश्यक है, न केवल कर्मभोग के समय पर, साधना के दौरान भी अनिवार्य है। यह केवल अनपढ़ मुमुक्षु के लिए ही नहीं वरन् विद्वान साधक के लिए भी उतना ही जरूरी हैं। कोई भी कर्म या साधना तब तक सफल नहीं हो

पाते है, जब तक प्रामाणिकता न हो। जिस व्यक्ति में तत्परता की कमी है, उसके विषय में चाहे वेद-शास्त्र सम्बन्धी हो, चाहे गुरूपदेश की बात हो, कुछ कहना ही व्यर्थ है।

अतः चाहे विद्वान साधक हो, चाहे अनपढ़ मुमुक्षु हो, मोक्ष की इच्छा से पूरे तन-मन से, तीव्रता से यदि साधना करेगें तो साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर मुक्त हो सकते है, इसलिए इन दोनों व्यक्तियों में कोई भेदभाव करने की आवश्यकता नहीं है, दोनों ही आत्मविचार प्रक्रिया के लिए सक्षम है।

शिष्य:- तो फिर इस प्रक्रिया के लिए काबिलियत के सम्बन्ध में विद्वान और अनपढ़ में क्या अन्तर है?

सद्गुरू:- केवल अन्तर उनके पाण्डित्य में है, इस प्रक्रिया की साधना में, अभ्यास में कोई अन्तर नहीं है।

शिष्य:- क्षमा करें, गुरूदेव! ऐसा नहीं हो सकता है, यद्यपि पाण्डित्य इनकी साधना पर कोई अन्तर नहीं ला पाएँ परन्तु आत्मविचार में जरूर विद्वान साधक की गहराई अनपढ़ की अपेक्षा ज्यादा होनी चाहिये।

सद्गुरू:- नहीं, ऐसा नहीं है। सारे शास्त्र ज्ञान आत्मविचार के लिए नहीं है, बल्कि वैराग्यादि साधन चतुष्टय ही इस मार्ग के लिए साधक को अधिकार देता है, न कि शास्त्रों का ज्ञान। इसलिए विद्वान को कोई विशेष सहायता या लाभ नहीं मिल जाता है, इस सांख्य मार्ग पर।

शिष्य:- अच्छा, ठीक है! मानता हूँ कि इस मार्ग के लिए वैराग्यादि अत्यावश्यक है परन्तु आत्मविचार, आत्मनिरीक्षण तो शास्त्रों के मार्गदर्शन में

ही किया जाता है। अतः सफल सांख्य मार्ग में चलने के लिए तथा इच्छित फल पाने के लिए शास्त्रों का अध्ययन नितान्त अनिवार्य है।

सद्गुरूः- कोरा बकवास है। मूर्खतापूर्ण बातें है, ये सब। स्वयं में स्थित होने के लिए किसी शास्त्र ज्ञान की जरूरत नहीं है। क्या कोई अपने को या अपनी उपस्थिति को जानने के लिए शास्त्रों को ढूढकर देखता है ? कदापि नहीं।

शिष्य:- पर गुरूदेव! यदि पहले से वह जानता है, स्वयं के बारे में, तब शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु साधक भ्रमित है, अपने सही स्वरूप को नहीं जानता है। अब एक अनपढ़ आदमी बिना शास्त्राध्ययन के, जिसमें आत्मा के स्वरूप, गुण के बारे में उल्लेख मिलता है, बिना जाने वह स्थिति कैसे पा सकता है ? अर्थात् नहीं पा सकता है। अतः साक्षात्कार के पहले अनिवार्य रूप से शास्त्रों की जानकारी अत्यावश्यक है।

सद्गुरूः- यदि ऐसी बात है, तो जो शास्त्रों द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान सम्बन्धी बातें वैसी ही होगी, जैसे वेदों में वर्णित परोक्ष स्वर्ग का विवरण जो कि आप अभी प्रत्यक्ष में अनुभव नहीं कर रहे है। यह अपरोक्ष न होकर सुनी-सुनाई बात ही होगी। जैसे विष्णु की साकार मूर्ति के बारे में जो ज्ञान मिलता है, वेदों से, वह हमेशा परोक्ष ही रहेगा, प्रत्यक्ष रूप से चतुर्भुज रूप का ग्रहण नहीं हो पाता है अथवा इस संसार में स्वर्ग की जानकारी अप्रत्यक्ष ही है, उसी प्रकार शास्त्र में आत्मा के बारे में परोक्ष जानकारी ही मिलती है। अतः परोक्ष ज्ञान से व्यक्ति वहीं अपने को पाता है, पठन के पूर्व जहाँ खड़ा था। केवल अपरोक्ष ज्ञान ही सत्य व सार्थक है, जो सद्गुरू कृपा एवं सानिध्य से मिलता है। स्वयं की

स्थिति पानी है, न कि उसके बारे में बातचीत करनी है। स्थिति मौन से ही प्राप्त है।

शिष्यः- क्या ऐसा किसी अन्य महापुरुष द्वारा भी कथन किया गया है?

सद्गुरूः- श्री विद्यारण्य स्वामी ने "ध्यान दीपिका" में ऐसा कथन किया है, उन्होनें कहा है कि विष्णु की जानकारी, जो शास्त्रों में मिलती है, कि वे चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी है। यह केवल परोक्ष ज्ञान है, न कि प्रत्यक्ष। यह वर्णन केवल उसका मानसिक चित्र बनाकर पूजा करने के लिए है, कोई आमने-सामने देख नहीं सकता है। इसीप्रकार शास्त्रों से यह जानना कि आत्मा सच्चिदानंद है, केवल परोक्ष ज्ञान ही है। यह उपरोक्त अनुभूति के समान नहीं है। आत्मा को तो व्यक्ति अपने हृदय गुफा में ही खोजें तो मिलता है या पंचकोशों के साक्षी के रूप में अनुभव कर सकता है, वही ब्रह्म है। इस अपरोक्ष अनुभूति को पाए बिना, शास्त्रों से उथली, सतही ज्ञान ही तुम्हें मिलेगा, वह ज्ञान तो हमेशा, परोक्ष, अप्रत्यक्ष ही रहता है।

शिष्यः- परन्तु, एक संशय है, गुरूदेव! स्वर्ग या विष्णु सम्बन्धी जानकारी तो आत्मा से भिन्न है, अतः उनका ज्ञान परोक्ष होने पर भी दृश्यात्मक ही होता है परन्तु आत्मा विषयक ज्ञान कैसे भी प्राप्त करें, चाहे शास्त्र द्वारा या प्रवचन द्वारा, पर द्रष्टा सम्बन्धी होने से अपरोक्ष ही होगा, न कि परोक्ष या अप्रत्यक्ष।

सद्गुरूः- यद्यपि वेदान्त का उच्च सत्य "तत्वमसि" का प्रतिपादन करता है कि जीव रूपी आभास ही ब्रह्म है तथा सीधे बिना छिपाव के इसी को परम सत्य पाने का एकमात्र मार्ग कहता है, फिर भी आत्मनिरीक्षण के द्वारा ही

व्यक्ति स्वस्थिति पा सकता है। जब इस सत्य को अनुभव करने हेतु वह मौन निर्विचार सजग होकर निरीक्षण करता है, तभी उसे चरम अनुभूति हो सकती है।

श्री वशिष्ठ जी ने भी इसी तरह का उपदेश दिया था। शास्त्र, गुरू, उपदेशादि सब परम्परा मार्ग है, जो सीधे साधक को स्वरूप स्थिति में नहीं ला सकते हैं। साधक की चित्त शुद्धि ही स्वरूप स्थिति के लिए एकमात्र साधन है, न कि शास्त्र या गुरू। अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि जो विवेकवती है, के द्वारा ही निर्विचारता आती है। सभी शास्त्र इस पर सहमत है। अतः यह स्पष्ट है कि केवल आत्मनिरीक्षण द्वारा ही स्वरूपसिद्धि होती है, न कि वेदान्त प्रवीणता व पाण्डित्य से।

शिष्य:- गुरूदेव! मुझे ऐसा लगता है कि आत्मविचार तो शास्त्रों के गहन स्पष्ट ग्राह्यता से मिल सकता है अन्यथा कैसे आत्मविचार होगा ? शास्त्रोक्त वचन के विश्लेषण व तीव्र अध्ययन के माध्यम से ही तो विचार संभव होता है?

सद्गुरूः- बेटा! तुम अभी "आत्मविचार" किसे कहते है? यही नहीं समझ पाए हो। इस शरीर, मन, इन्द्रियों में एक "अहं" (मैं का भाव) निरन्तर स्थित रहता है। जब एकाग्रदृष्टि से मन को अंतर्मुख करके इस "मैं" की खोज की जाती है, जो कि पाँचों कोशों के भीतर व उसके परे भी है, तब मन मौन हो जाता है। (पंचकोश है-अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनंदमय कोश) इसके अलावा यदि कोई वेदान्त शास्त्रों के वचनों को रटते हुए या उन शास्त्रों के वचनों का विश्लेषण करते हुए बाहर यानि विश्व

में ढूढ़ने का व देखने का प्रयत्न करता है, उसे आत्मविचार नहीं कहा जाता है। जब तीव्र सूक्ष्म बुद्धि द्वारा आत्मा या मैं के असली स्वरूप का अपने में ही अनुसंधान किया जाता है, उसी को आत्मविचार कहते है।

शिष्य:- तो क्या आपका कहना है कि पठन व शास्त्रों को समझने से स्वरूप स्थिति नहीं पा सकते है?

सद्गुरूः- नहीं! हरगिज नहीं। पहले समझों कि आत्मा क्या है ? तुम्हारा मैं ही सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप है, स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों से भिन्न, तीनों अवस्था यथा-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी हृदय गुफा में ही अवस्थित है, जो तुम्हारे अन्दर या तुम्हीं हो, वह किस प्रकार तुम्हारे स्वरयंत्र को कष्ट देते हुए शास्त्रों का जोरों से पाठ करने या तर्क शास्त्र, व्याकरण संधि आदि के ज्ञान से शास्त्रों का विश्लेषण करने व उनका शास्त्रार्थ करने से कैसे जान सकते हो?

शिष्य:- अच्छा, तो आत्मा को किस तरह से जाना जा सकता है?

सद्गुरूः- सर्वप्रथम मन से पाँचों कोशों के स्वरूप का परीक्षण, निरीक्षण करों। अपने अनुभव से देखों व निर्धारित करों कि वे क्या कार्य करते है, एक-एक करके उनको यह कहकर हटाते जाओ, कि यह मैं नहीं हो सकता हूँ- अब कुशाग्र हुई बुद्धि से देखो, इनके अलावा शेष क्या बचा है-वह तुम ही हो, जो पाँचों कोशों के बारे में जान रहा है, उससे परे है एवं निःशब्द है। तुम अपने को बाहर नहीं देख सकते हो। वह पाँचों कोशों में व उनके भीतर स्थित है। इसे खोजने के लिए मन को सूक्ष्म, एकाग्र बनाकर अर्न्तमुखी होकर ढूंढ़े, न कि

शास्त्रों में ढूंढ़े। कोई भी व्यक्ति, जो होश-हवास में है, जगत में वह वस्तु ढूंढ़ेगा क्या, जो घर में खोई है ? वहीं ढूंढ़ना अक्लमंदी कहलाता है, जहाँ जो चीज छुपी हो, किसी अन्य वस्तु से ढ़की हुई हो। आत्मा भी पाँच कोशों के भीतर छुपी है, अतः वहीं उसे खोजे, न कि शास्त्रों में। ढूंढ़ने का स्थान शास्त्र नहीं है, अपने में है।

शिष्य:- सत्य वचन है। आप सही कह रहे है कि आत्मा शास्त्रों में नहीं मिलती है। शास्त्रों द्वारा पंडित पंचकोशों के स्वभाव के बारे में जान सकता है। बौद्धिक परिशीलन से, अनुभव से, परीक्षण-निरीक्षण से, एक-एक करके कोशों को वह हटा सकता है तथा अपने मैं में स्थित हो सकता है। परन्तु जो अनपढ़ आदमी है, वह आत्मा के स्वरूप या पंचकोशों के बारे में शास्त्राध्ययन बिना कैसे करेगा व आत्मविचार में कैसे लगेगा, यह संदेह मुझमें उठ रहा है।

सद्गुरू:- जैसे विद्वान ग्रन्थों से जानकारी पाता है, वैसे ही अनपढ़ व्यक्ति भी अपने गुरू से जानकारी प्राप्त करता है, उसके बाद दोनों के लिए आत्मविचार मार्ग समान ही है।

शिष्य:- इसका मतलब यह तो नहीं है कि एक अनपढ़ के लिए ही सद्गुरू की आवश्यकता है, न कि विद्वान साधक के लिए?

सद्गुरू:- यह अच्छी तरह से समझ लों कि चाहे अनपढ़ व्यक्ति हो, चाहे विद्वान हो, बिना सद्गुरू के कोई भी इस मार्ग में सफल नहीं हो सकता है। अनादि पूर्वकाल से यह देखने में आया है कि बिना गुरू के स्वरूप स्थिति असंभव है। जो साधक सर्वशास्त्र पारंगत, कुशल होने के बावजूद ज्ञान की पराकाष्ठा में स्थित होने के लिए गुरू के सान्निध्य में पहुँचकर उनके शरणागत

हुए हैं। नारद ज्ञान वास्ते सनत् कुमारों के पास पहुँचे थे, इन्द्र भी ब्रह्मा के पास तथा शुकदेव भी राजा जनक की शरण में गए थे। अतः कोई भी मुक्त नहीं हो सकता है, जब तक गुरू की कृपा कटाक्ष नहीं पाता है।

शिष्यः- अच्छा। तो कृपया बताए कि पूर्व में कोई अनपढ़ व्यक्ति भी केवल गुरूकृपा से मुक्त हुआ है?

सद्गुरूः- हाँ ! अवश्य ! याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी अनपढ़ पत्नी मैत्रेयी को ज्ञान कराया एवं मुक्ति पद में स्थित करवाया। अन्य अनेक स्त्रियाँ जैसे लीला, चुडाला आदि भी जो कि शास्त्र ज्ञान से दूर थी, गुरूकृपा से स्वस्थिति पाई। अतः जो शास्त्र ज्ञान की जानकारी नहीं रखते हैं, वे भी इस मार्ग के लिए अधिकारी हुए हैं तथा सफल हुए हैं।

अब तुम्हारी समझ में आ गया होगा कि उच्च अधिकारी वही है, जो सत्यासत्य के विवेक से वैराग्यवान है, सभी विषयभोगों को विष, उल्टी या जलती आग के समान त्याग देता है तथा सब कार्यों को छोड़, सुषुप्ति समान शांत रहता है, परन्तु शारीरिक व मानसिक असह्य पीड़ा से त्रस्त (जैसे किसी के सिर के बालों में आग लग गई हो, जो एक क्षण भी सुखी नहीं हो पाता है, जलन के कारण) होकर मोक्ष कामना से हाहाकार करता है कि "कब मैं मुक्त हो पाऊँगा ? कैसे इस तापत्रय से छूट सकता हूँ ? कौन मेरे आर्तनाद पुकार सुनेगा ?" आदि से तड़पता है।

अधिकारी की भी तीन श्रेणियाँ हैः- उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। इन श्रेणियों के अनुसार ही साधकों के प्रयत्न से मिलने वाली सफलता को आंकते है, जो चारों में पूर्ण हैं, उन्हें तुरन्त फल मिलता है, जैसे राजा जनक, राम

आदि। मध्यम के लिए कुछ समय इस जन्म में ही तीव्र प्रयत्न करने से सफलता मिल सकती है। मध्यम वह है जिसमें विवेक, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता तो है पर कामनाएँ शेष है, एवं सतत् प्रयत्नशील है, ज्ञान की स्थिति भी कुछ अदृढ़ रहती है। जिसमें तीव्र मुमुक्षुता है, पर व्यस्त है, कामनाएँ अभी शेष है, एकान्त में ही ध्यान द्वारा विवेक को दृढ़ करना पड़ता है, वह कनिष्ठ श्रेणी का है पर वह भी तीव्र प्रयत्न अधिक समय तक करें तो सफल हो सकता है। पर सभी श्रेणियों में मुमुक्षुता पर जोर दिया गया है। वैराग्य की कमी से मनःविक्षेप के कारण द्वितीया, तृतीया श्रेणी के साधकों को लगकर आत्मविचार करने में बाधा महसूस होती है, पर योगाभ्यास से मन शीघ्रता से समाहित हो सकता है। ऐसे साधकों के लिए मनन, धारणायुक्त ध्यान अनुकूल पड़ता है। परन्तु प्रथम श्रेणी के साधक योग की अपेक्षा आत्मविचार मार्ग यानि सांख्य विधि से अधिक लाभान्वित होते हैं।

श्री विद्यारण्य स्वामी ने "ध्यान दीपिका" में कहा है कि "जो साधक भ्रमित है उनके लिए सांख्य मार्ग द्वारा सफलता प्राप्त करना कठिन है। उन्हें मन को समाहित करने के लिए योग विधि अपनानी चाहिए जैसे प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि। जिनके मन साधन चतुष्टय से पूर्ण है, जो एकाग्र चित्त है, भ्रमित नहीं है उनके लिए केवल आत्मा का आवरण ही रहता है, जिसके हटते ही जग जाते है। आत्मविचार ही एकमात्र माध्यम है, जिससे वे पूर्णतः जग सकते है।

योग की विशेषता यह है कि बिना अधिक जोर लगाए ही साधक सफलता पा सकता है पर समय अधिक लगता है, निरन्तर प्रामाणिक, सावधानीपूर्वक, सब्र के साथ अभ्यास करने की जरूरत है।

शिष्य:- इतनी सावधानी क्यों बरतने की जरूरत है?

सद्गुरू:- देखो, जब भी मन को एकाग्र करने की कोशिश चलती है, वह अपने स्वभाव अनुसार चंचल, अस्थिर होने लगता है, इन्द्रियों द्वारा बाह्यदृश्य की ओर मन आकर्षित होने लगता है। व्यक्ति बड़ा विद्वान, निश्चयी क्यों न हो, पर मन हमेशा ही चंचल, मजबूत, कठिनता से नियंत्रण में आने वाला होता है। एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रह पाता है क्योंकि उसका स्वभाव ही मनमानी करने की प्रवृत्ति का है तो इधर-उधर, सर्वत्र उड़ता-फिरता है। अभी वह पाताल में था, अगले ही क्षण आकाश में उड़ता है। सूई (**COMPASS**) जैसे चारों तरफ घूमती है, उसी प्रकार मन भी बिजली से भी अधिक वेग से चलता रहता है। उसे वानर से तुलना कर सकते है। अनियंत्रित बालक के समान कूदता-फांदता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सावधानी की जरूरत है।

श्रीमद् भगवद्गीता में भी उल्लेख है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि “हे भगवन् मन चंचल, अस्थिर, प्रमादी, बलवान, दृढ़ी है, नियत्रंण में नहीं आता है। वायु को पकड़े रखना सरल है, पर मन को वश में करना कठिन, तो क्या मुझे असंभव सा लगता है।”

योग वाशिष्ठ में भी श्रीराम ने वशिष्ठजी से पूछा है कि “हे सद्गुरो। मन को वश में करना असंभव नहीं है क्या ? समुद्र को कोई पान कर सकता है, मेरू पर्वत को उठा सकता है, जलती अग्नि ज्वाला को पी सकता है, पर मन को वश में करना अतिकठिन है। इसप्रकार श्रीराम, अर्जुन तथा अपने स्वयं के अनुभव से भी हम कह सकते है कि कितने ही क्षमतावान् हो, धीर,

शूर हो, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है कि मन को वश में करना अत्यंत कठिन है।"

शिष्य:- यदि मनःनियंत्रण इतना कठिन है तो योगविधि का अभ्यास कैसे किया जा सकता है?

सद्गुरूः- अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा मन को वश में कर सकते है, यहीं बात भगवान ने अर्जुन से एवं वशिष्ठजी ने श्रीराम से भी कही थी। श्रीकृष्ण ने कहा था कि "हे कुन्ती पुत्र! सचमुच चंचल एवं कठिनता से यह मन वश में आने वाला है, केवल अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही यह संभव हो सकेगा।" वशिष्ठजी ने कहा "हे राम, यद्यपि मनःनियंत्रण कठिन है, पर फिर भी अभ्यास एवं सतत् परिश्रम से, जैसे दाँत भींचकर, दोनों हाथों को कसकर, हाथ-पैर इन्द्रियों को जमकर काबु में करके, आत्मशक्ति (**WILL POWER**) द्वारा इस कार्य को सम्पादित कर सकते हों एवं मन को वश में करने में सफलता पा सकते हो।"

अतः तीव्र, गहरा, सतत् सावधानीपूर्वक प्रयत्न करने से उद्देश्य की पूर्ति संभव है।

मनरूपी मधुमक्खी हृदयकमल में निवास करते हुए भी हृदयकमल में स्थित तुलनातीत आनंदरूपी मीठे शहद से मुँह मोड़कर, बाहर के कडुए दुःखपूर्ण शहद के लिए लालायित होकर पंचेन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध रूपी विषयों की ओर हमेशा उड़ता रहता है। यदि कोई व्यक्ति वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों को जबरदस्ती रोकता है, मन को बन्द कर अन्तर की

ओर मोड़ने का प्रयत्न करता है, तो भी यह मन पूर्वस्मृतियों को पुनः सामने लाकर सोचता रहता है, हवा के किले निर्मित करता रहता है।

शिष्य:- तब तो बड़ा कठिन है, मन की सूक्ष्म क्रियाओं को कैसे रोककर पूर्णतः उसे वश में कर सकते है?

सद्गुरू:- एक ही रास्ता है, बाहर से सब क्रियाओं को रोककर मन को अन्तर की ओर मोड़े एवं मन मधुमक्खी को हृदयकमल में स्थित मीठे मधु का पान करवाए, यदि ब्रह्मानंद को चखा दें।

शिष्य:- कृपया इस योग के बारे में स्पष्ट करें।

सद्गुरू:- जब साधक तीव्र मुमुक्षुता से प्रबल आकांक्षा के साथ सद्गुरू के पास पहुँचता है, तब उनके द्वारा यह श्रवण करता है कि अद्वैत ब्रह्म ही सत्, चित्, आनंद स्वरूप वाला आत्मा के रूप में प्रकाशित है, यद्यपि वह परोक्ष ज्ञान को बौद्धिक रूप से समझता है तथापि मन को एकाग्र करके इस ब्रह्म पर ध्यान करने लगता है, वह मनन आत्मविचार में नहीं लगकर अद्वैत ब्रह्म का निर्गुण, निराकार स्वरूप का ध्यान व उपासना करने लगता है, यही योग विधि है। निरन्तर अभ्यास से मन शांत होकर समाधि में स्थित होता है तथा ब्रह्मानंद की अनुभूति पाता है।

शिष्य:- क्या कोई अन्य महापुरूषों द्वारा भी इसप्रकार कथन किया गया है?

सद्गुरू:- हाँ। श्री भगवान ने कहा है कि जो योगीजन मन को वश में करके शांतचित्त से आत्मा की ओर मन को मोड़कर एकाग्रचित्त होते है, वे भी अन्त में मुझे ही प्राप्त करते है यानि मुक्ति का आनन्द पाते है। जिस योगी का

मन निरन्तर योगाभ्यास से वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लौ के समान निश्चल, बिना हिले-डुले रहता है, वह भी समाधि में स्थित होकर मुझे ही प्राप्त करता है।

इसीप्रकार आत्मविचार एवं सजग निर्विचारता द्वारा भी मन शांति व समाधि में स्थित हो जाता है।

शिष्य:- यह आत्मविचार किस प्रकार का है?

सद्गुरूः- यह ऐसा है कि जब साधक गुरू से आत्मस्वरूप के बारे में शास्त्रों में वर्णित ब्रह्म सत्, चित्, आनंद ही है, ऐसा श्रवण कर स्पष्ट परोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, इसके बाद उपदेश के आधार पर कुशल युक्ति से जानता है कि शुद्ध ज्ञान ही आत्मा है तथा अनात्मा तो दृश्य रूप जड़ात्मक ही है, जैसे अहंकारादि उन जड़ समुहों को विवेक द्वारा छानकर समझ लेता है कि वे आपस में व्यतिरेक यानि अलग-अलग है, जबकि इनको जानने वाला मैं अन्वय या एक ही हूँ। इसके बाद ध्यान द्वारा सारे दृश्य को निरस्त कर शेष बचे अरूप मन को आत्मा में विलिन कर अद्वैत सिद्धि पाता है, जो कि ब्रह्मानंद की अपरोक्ष अनुभूति हैं। यहाँ पर सब संक्षिप्त में विवरण दिया गया है, पर शास्त्रों में सब विस्तार से वर्णित है।

इस अध्याय में आत्मविचार एवं योग विधियों के बारे में चर्चा की गई है, जिससे मन निश्चल, निःस्तब्ध तथा शांत हो सके। अपनी क्षमता एवं हैसियत के अनुरूप एक विधि को चुनकर बुद्धिमान साधक अभ्यास करें।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय में ईमानदार साधक कैसे अपने बारे में विश्लेषण, अध्ययन, निरीक्षण कर निर्धारण कर सकता है कि वह

अधिकारी किस तरह का है, उसमें कौन-कौनसी बातों की कमी है ? उन कमियों को दूर करके वह इच्छानुसार अपने अनुकूल विधि को (उपर्युक्त दोनों में से कोई एक को) पहिचान कर अभ्यास करके सफलता पा सकता है, इसके बारे में विवरण दिया गया है।

.

- :अध्याय चार - श्रवण:-

पिछले अध्यायों में हमने यह देखा है कि योगविधियाँ निम्न श्रेणी के साधकों के लिए उपयुक्त है तथा आत्मविचार की विधि, जिसे सांख्य भी कहते है, उत्तम एवं प्रथम श्रेणी के साधकों के लिए अनुकूल पड़ता है। इस वर्तमान अध्याय में किसप्रकार सांख्य विधि द्वारा बिना अधिक परिश्रम के ही ब्रह्मज्ञान में स्थित हो सकते है, इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी दी जा रही है।

शिष्य:- यह सांख्य क्या है ? कृपया स्पष्ट करें।

सद्गुरूः- शास्त्रों में इस मार्ग के बारे सविस्तार वर्णन है कि उसमें चार अंग है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि। वेदों में भी उल्लेख है कि "हे प्रिय! इस आत्मा के बारे में सद्गुरू के द्वारा श्रवण करना चाहिए तथा मनन एवं ध्यान निरंतर करना आवश्यक है।" एक दूसरे भाग में यह भी कहा है कि "स्वरूपस्थिति का दूसरा नाम आनन्दपूर्ण शांत स्थिति ही है।" श्री आदिशंकराचार्य जी ने अपनी अमूल्य कृति "वाक्यवृत्ति" में उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमती व्यक्त की है कि "जब तक अहंब्रह्मास्मि महावाक्य के लक्ष्यार्थ का अनुभूति में बदल नहीं जाता है, तब तक श्रवण बन्द नहीं करना चाहिए" आदि।

श्री विद्यारण्य स्वामी ने अपनी प्रसिद्ध कृति "चित्रदीपिका" में कहा है कि आत्मविचार से ही ज्ञान प्राप्त कर सकते है तथा आत्मविचार

श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ही संभव है। ज्ञान की स्थिति का "स्वरूप" है कि ब्रह्म की सजग शांतिपूर्ण आनन्द ही निरन्तर रहता है, अन्य कुछ नहीं रहता है। उसका "कार्य या प्रभाव" है, हृदयग्रंथि रूप अहंकार (**EGO**) कि "शुद्ध अहं" बनकर नाटक कर रहा था, पूर्णतः गायब हो जाता है। इसकी "अवधि" है निरन्तर "मैं परमात्मा ब्रह्म स्वरूप ही हूँ" की अनुभूति उतनी ही मजबूत निःसंदेह, सुदृढ़ रूप से रहना, जितना एक अज्ञानी को अपने शरीर के प्रति तादात्म्यता रहती है कि "मैं शरीर ही हूँ"। मोक्ष ही इसका "फल" है। अतः यह स्पष्ट है कि श्रवण ही आत्मविचार के लिए अत्यावश्यक है अर्थात् परम सत्य का श्रवण, मनन, ध्यान तथा समाधि में स्थित रहना ही ज्ञान की विधियाँ है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन का "हेतु या कारण है" वें चारों साधन यथा विवेक, वैराग्य, षट्सम्पति, मुमुक्षुता ही हैं। समय एवं उचित स्थान पर यह बताया जाएगा कि इनकी जरूरत किस भाग के लिए आत्मविचार में पड़ती है। अब श्रवण के सम्बन्ध में चर्चा करें।

सद्गुरूः- वेद में उल्लेखित छः प्रमाणों, अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है, ऐसा सिद्धान्त का निर्धारण ही श्रवण का रूप है।

श्रवण को भी पहले वर्णित पाँच विशेषताओं के अन्तर्गत विश्लेषित कर सकते हैः- मुमुक्षुता ही श्रवण का हेतु है। हमेशा यही श्रवण करना कि ब्रह्म तो अद्वैत ही है, श्रवण का स्वरूप है। इसका प्रभाव या कार्य है, आवरण शक्ति जो अज्ञान के कारण हुई है कि "ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है" का

पूर्णतः हट जाना। इसकी अवधि है, आवरण का पुनः दखल न दे पाना तथा इसका फल है दृढ़ परोक्षज्ञान।

शिष्यः- यह कैसे कहा जाता है कि मुमुक्षुता ही श्रवण का हेतु है?

सद्गुरूः- श्रुति में कहा है कि "प्रलय (सुषुप्ति) के समय तथा सृष्टि के (जाग्रत, स्वप्न) पूर्व केवल एक ही अद्वैत सत्य रहता है, वह आत्मा ही है। केवल मुमुक्षुता ही इस ज्ञान का खोजी है, जो मुक्त होना चाहता है तथा गुरू से श्रवण करने जाता है, कोई अन्य इसमें रूचि नहीं लेता है। अतः श्रवण के लिए एकमात्र अनिवार्य आवश्यकता है, प्रबल, तीव्र, गहरी मुमुक्षुता ही।

शिष्यः- एक प्रश्न है कि आपने कहा श्रवण का स्वरूप है, हमेशा अद्वैत आत्मा के बारे में ही सुनते रहना, पर "अद्वैत आत्मा" कौन है?

सद्गुरूः- वह और कोई नहीं श्रुति में वर्णित चैतन्य ही है, जो कि तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) से परे, पंचकोशों से पृथक, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) के साक्षी ही है।

शिष्यः- तीनों शरीरों के परे अर्थात् क्या है?

सद्गुरूः- देखो! स्थूल शरीर तो जानते ही हो। चर्म, रक्त, पेशियाँ, वसा, अस्थि, नाडियाँ एवं नलिकाओं से युक्त है, हमेशा स्त्रवित एवं निष्कासित करता रहता है। जन्मता है तथा मरता है। दीवार की तरह जड़ है, घड़े के समान इन्द्रिय ग्राहय पदार्थ है।

सूक्ष्म शरीर ही अतःकरण है, जो “मन” रूप से प्रसिद्ध है। जो अहं एवं इदंवृत्ति से कार्य करता है। सुक्ष्म शरीर के अंतर्गत पंचप्राण, पंचेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय आते है। यही आवागमन चक्र में फंसा है। एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक का गमनागमन करता रहता है। स्थूल शरीर के साथ व अन्दर रहते हुए सुख-दुःखो का अनुभव करता है।

कारण शरीर वह है जो अनादि, मिथ्या, अचिन्तनीय व अवर्णनीय अज्ञान से अभिव्यक्त है तथा जिस पर स्थूल, सूक्ष्म शरीर टिके है।

आत्मा के स्वरूप से ये तीन शरीर भिन्न, विपरीत है।

शिष्यः- वह कैसे?

सद्गुरूः- स्थूल शरीर जड़ है, सूक्ष्म शरीर दुःखों से भरा है, कारण शरीर मिथ्या है। ये तीनों सत्, चित्, आनन्द जो कि आत्मा का स्वरूप है, विपरीत हैं। इसीलिए ये तीनों शरीर आत्मा से भिन्न हैं, पंचकोशों से भी अलग है।

शिष्यः- कैसे पंचकोशों से भिन्न है?

सद्गुरूः- अन्नमय कोश जो प्रथम है, वह आहार से बनकर जन्म लेता है, आहार से ही बढ़ता है। इस कोश को ऐसा भी कह सकते है, कि आहार का सुधरा हुआ रूप है, यानि अन्नमय है, जिसप्रकार तलवार एक कोश में सुरक्षित है उसीप्रकार आत्मा इन कोशों से आवृत है एवं इनके द्वारा ज्ञान प्रकाशित होने में बाधा पड़ती है। अन्नमय कोश का आदि है तथा अंत है। यह शाश्वत, सत्, स्वरूप आत्मा से भिन्न है।

सूक्ष्म शरीर की बनावट प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से बना है। पंच द्वारों से पांच प्रकार से वृत्तियों से क्रिया करते हुए पंचप्राण, पांच

कर्मेंद्रियाँ सहित शरीर में कार्य करते है। अतः यह प्राणमय कोश है, जो कि जड़ है, आत्मा नहीं है ।

मनोमय कोश अपने संस्कार व वृत्तियों से अभिव्यक्त है जैसे काम, क्रोध आदि से यह-वह सम्बन्धी संकल्प-विकल्प करना, इदंवृत्ति से संस्कारों को उजागर करना आदि, यह भी जड़ है ।

विज्ञानमय कोश यह-वह रूपी मनःवृत्तियों को पहचान देता है कि यह वस्त्र है, घड़ा है आदि । यही शरीर के प्रति अहंवृत्ति रूपी मिथ्या अभिमान उत्पन्न करता है तथा घर, धन, परिवार, जमीन आदि के प्रति मेरापन । पंच ज्ञानेंद्रियों के साथ यही अहंवृत्ति, विज्ञानमय या बुद्धि का कोश कहलाता है। यह स्वप्न व जाग्रत अवस्थाओं में सक्रिय तथा नख से शिख तक शरीर में अभिमानयुक्त रहता है, सुषुप्ति व बेहोशी में लयावस्था को प्राप्त होता है। अतः यह शाश्वत आत्मा नहीं है ।

सुषुप्ति से जगने पर प्रत्येक व्यक्ति यह महसूस करता है कि “मुझे कुछ पता नहीं पड़ा, अत्यंत आनन्द से सोया” यहाँ उसका अनुभव अज्ञान व आनन्द का है, यह आनन्दमय अज्ञान ही आनन्दमय कोश है। अज्ञानी होने के कारण यह अनात्म है।

अब तुम्हें बता दिया कि ये पाँचों कोश अनात्म है। जिस प्रकार घड़े को देखने वाला घड़े से भिन्न होता है, इसीप्रकार इन कोशों का अनुभवकर्ता इनसे अलग है, इसमें संशय नहीं है ।

शिष्य:- यह कैसे कहा जाता है कि आत्मा तीनों अवस्थाओं का साक्षी है?

सद्गुरूः- यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि मिथ्या अहं या जीव (EGO) तीनों शरीरों से तादात्म्यता करके जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से गुजरता है। शुद्ध अहं जो कि चैतन्य ही है। इन किसी भी शरीरों से समकक्ष का नहीं है। अतः यह कहा जाता है कि शुद्ध अहं (कूटस्थ) इन अवस्थाओं व शरीरों को अपने सान्निध्य में कार्य करते हुए देखता है।

शिष्य:- यदि ये तीन शरीरादि, अवस्थाएँ आत्मा के नहीं है तो वे किसके है?

सद्गुरूः- वे सब इस मिथ्या अहं, जीव (EGO) के ही हो सकते है, क्योंकि तादात्म्यता तो इनसे वही करता है, जब कि आत्मा तो उदासीन, निरपेक्ष, स्थिर है । जाग्रत में वही जीव "विश्व" बनकर स्थूल विषयों को भोगता है, स्वप्न में "तैजस" बनकर सुक्ष्मभोग भोगता है, सुषुप्ति में "प्राज्ञ" बनकर अज्ञान का अनुभव करता है। अतः यहाँ पर अनुभवकर्ता तो जीव ही है, न कि आत्मा ।

शिष्य:- यह आप कैसे कहते है कि तीनों अवस्थाओं का भोक्ता जीव ही है, न कि आत्मा, यह कैसे निर्धारित किया जाता है?

सद्गुरूः- देखों! सुषुप्ति में जीव की उपस्थिति नहीं रहती है, क्योंकि कोई अनुभव या भोक्ता नजर नहीं आते है, जैसे ही जीव जागता है, भोग व भोक्ता दोनों आ जाते है। अतः जीव ही भोक्ता है। जाग्रत, स्वप्न दोनों का भोक्ता जीव ही है। आत्मा के ये नहीं हो सकते है।

शिष्य:- तब सुषुप्ति किसकी है?

सद्गुरूः- यह भी जीव की ही है, क्योंकि जगने पर यही डींग हांकता है कि "मैं सुख से सोया, जागा, स्वप्न देखा" आदि। ये सब आत्मा के नहीं है जो निरपेक्ष, साक्षीरूप से रहता है। न केवल तीनों अवस्थाओं के प्रति वरन् उनके अनुभवकर्ता के प्रति भी जो कि कपट से अपने को प्रकाशक दृष्टा "मैं" मान रहा है। मैं सोया, जागा, स्वप्न देखा आदि में ही उलझा रहता है। अतः तीनों अवस्थाएँ आत्मा के लिए नहीं हैं।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव ! सुषुप्ति में जीव को भोक्ता नहीं कहा जा सकता है। वह तो आपने कहा लयावस्था में रहता है तो वह कहाँ से भोक्ता बनेगा, जो वहाँ मौजूद ही नहीं है ? जाग्रत व स्वप्न का भोक्ता जीव है तो यह सही है परन्तु सुषुप्ति तो मुझे लगता है कि आत्मा का ही अनुभव होना चाहिए क्योंकि जीव डूबा हुआ था तथा वहाँ था ही नहीं?

सद्गुरूः- तुम यह सही नहीं कह रहे हो। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में जीव विज्ञानमय कोश ओढ़कर स्थूल, सूक्ष्म विषयों को भोगता है तथा सुषुप्ति में आनन्दमय कोश ओढ़कर अज्ञान तथा आनन्द में डूबा रहता है। उस स्थिति में अज्ञान व आनन्द का भोक्ता बना रहता है। यदि सुषुप्ति में जीव की उपस्थिति नहीं होती तो जगने पर यह किसको याद रहता है कि "मुझे कुछ नहीं पता पड़ा, मैं सुख से सोया, बेभान सो गया आदि"? जिसने अनुभव किया है, वहीं उसे याद कर सकता है, न कि कोई दूसरा व्यक्ति। यह स्मृति भी सचमुच जो अनुभव किया था, उसी की है, न कि बिना अनुभव किये की! अतः जगने पर

जीव ही यह कहता है कि सुख से सोया। अतः यह स्पष्ट है कि सुषुप्ति का भोक्ता जीव ही है, आत्मा नहीं।

शिष्य:- अच्छा, तो फिर इस सुषुप्ति के आनन्दमय कोश से परे जो इसके भी साक्षी चैतन्य है, वह क्या है?

सद्गुरूः- आनन्दमय कोश तो अज्ञान ही है, जिसका पता बाद में लगता है। जो पहचानकर्ता है, वह तो इस पहचान से भिन्न है। अतः वही इस आनन्दमय कोश का अनुभवकर्ता, सुषुप्ति का भी अनुभवकर्ता है।

जब इस आनन्दमय कोश जो कि अज्ञान ही है, के साथ चिदाभास तादात्म्यता कर लेता है, तब अपने को अज्ञानी ही मानता है तथा अज्ञान अपने को जान नहीं सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि एक ऐसा साक्षी चैतन्य की उपस्थिति भांपी जाती है, जो आनन्दमय कोश एवं उसके अनुभवकर्ता चिदाभास, उसका अनुभव कि "मैंनें कुछ नहीं जाना" आदि से परे, पृथक एवं इन सबको प्रकाशित करने वाली है। यही साक्षी चैतन्य अपना आत्मा है।

शिष्य:- कृपया बताएँ कि सुषुप्ति में सब कुछ विलीन होने पर भी साक्षी चैतन्य अप्रभावित रहता है, इसके लिए कोई साबित करने का प्रमाण उपलब्ध है?

सद्गुरूः- हाँ! श्रुति कहती है "साक्षी चैतन्य की दृष्टि कभी भी लुप्त नहीं होती है" अर्थात् जब सुषुप्ति में सब अव्यक्त व लय की स्थिति को प्राप्त होते है, तब भी परम साक्षी निरन्तर नित्य सजग ही रहता है।

शिष्य:- ठीक है। परन्तु सुषुप्ति तो अज्ञान ही है, उसका पहचानकर्ता एक अलग से हो तो समझ में आ जाता है, परन्तु जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में तो विज्ञानमय कोश, जो कि बुद्धि ही है, पहचान, कर्म एवं अनुभवकर्ता क्यों नहीं हो सकता है ? तब एक पृथक साक्षी चैतन्य के लिए कोई आवश्यकता या जगह ही नहीं है ।

सद्‌गुरूः- ऐसा तुम्हारा सोचना ठीक नहीं है। वह साक्षी चैतन्य तो बुद्धि या विज्ञानमय कोश का भी प्रकाशक है। तीनों अवस्थाओं का साक्षी एवं प्रकाशक वहीं है, जो जाग्रत एवं स्वप्न धारणाओं व विचारों को जानता है। जैसे मैं सोया-स्वप्न देखा, मैं गया, मैं आया, मैंनें देखा-जाना-सुना आदि, बुद्धि की धारणाओं को अलिप्त होकर प्रकाशित करता रहता है। जिसप्रकार साक्षी तो अज्ञान का प्रकाशक है, वैसे ही ज्ञान का भी प्रकाशक वहीं है। वह कभी दृश्य नहीं बनता है, जबकि बुद्धि दृश्य बन जाती है। अतः बुद्धि दृष्टा नहीं है।

शिष्य:- ठीक है! यदि साक्षी बुद्धि का प्रकाशक है, तो वहीं यहाँ पर अनुभवकर्ता या भोक्ता भी है, ऐसा क्यों न माना जाएं?

सद्‌गुरूः- ना! ना! कदापि नहीं। जो सुषुप्ति एवं उसके अनुभव का प्रकाशक एवं साक्षी है, वह कभी भी जाग्रत एवं स्वप्न का भोक्ता व अनुभवकर्ता नहीं हो सकता है। जो सोता है, वही जाग सकता है एवं स्वप्न देख सकता है। साक्षी कभी सोता नहीं है, निरन्तर सजग, होशपूर्ण ही रहता है बल्कि सजगता (**AWARENESS**) ही उसका स्वरूप है। वह न केवल तीन अवस्थाओं का साक्षी है बल्कि चिदाभास (जीव- **EGO**) का भी प्रकाशक व

साक्षी है। निःसंदेह साक्षी चैतन्य के लिए तीनों अवस्थाएं नहीं है तथा वह उसका अनुभवकर्ता भी नहीं है।

शिष्यः- ऐसा भी तो हो सकता है कि साक्षी चैतन्य प्रकाशक व साक्षी भी हो तथा तीनों अवस्थाओं का भोक्ता भी हो?

सद्गुरूः- जिस प्रकार दो व्यक्ति आपस में लड रहे हो तथा जो इनकों लडते हुए निर्णायक या साक्षी के रूप में इनकों गौर से देखकर निरीक्षण में लगा है, वह स्वयं लडता नहीं है। इसीप्रकार साक्षी चैतन्य भी भोक्ता नहीं हो सकता है। जब कि लडने वाला जो लडाई हो रही है, उसे देखता भी है, स्वयं लडता भी है, पर वह निष्पक्ष साक्षी नहीं हो सकता है। इसीतरह साक्षी भोक्ता नहीं हो सकता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साक्षी कभी भी अलिप्त होकर देखते हुए भोक्ता नहीं हो सकता है।

अतः "मिथ्या अहं" ही भोक्ता है, वही जीव है, जबकि असंग होकर जो चिदाभास (जीव) एवं तीन अवस्थाओं का निरीक्षण करता है, वह साक्षी चैतन्य ही है-भोक्ता कदापि नहीं।

शिष्यः- तब तो ऐसा भी हो सकता है न, तीनों अवस्थाओं के लिए तीन भिन्न-भिन्न साक्षी हो या तीनों के लिए एक ही है?

सद्गुरूः- साक्षी तो एक ही है, जब कि अवस्थाएँ बदलती रहती है। एक के बाद एक अवस्था आती रहती है, पर साक्षी कभी बदलता नहीं है। सभी प्रकार के दृश्य अनुभव के दौरान एक ही होश, सजगता जो कि निरन्तर सतत्, लगातार है, की धारा बहती है। जब अवस्थाएँ दिखती है, तब भी तथा जब

नहीं रहती है (जैसे तुरिय में) तब भी एक ही साक्षी आधार या अधिष्ठान स्वरूप रहता है। अतः मैंनें विस्तार से तुम्हें आत्मा के साक्षी स्वरूप के बारे में वर्णन किया है।

उपर्युक्त वर्णन आत्मा के "तटस्थ लक्षण" के बारे में बताया गया है। अब हम "स्वरूप लक्षण" के बारे में समझा देगें। स्वरूप लक्षण है-सत् चित् आनन्द, एक व्यापक, असंग, पूर्ण, अद्वैत, अपरिवर्तनीय तत्व ही आत्मा है।

शिष्य:- कृपया एक-एक करके स्पष्ट करें। सत् का क्या अर्थ है?

सद्गुरूः- वह निरन्तर हमेशा यह निरीक्षण करता रहता है कि जो कुछ भी चिदाभास पर थोपा गया है (तीनों अवस्थाएँ व उनकी अनुपस्थिति) उन सबको साक्षी के रूप में देखता रहता है। यही नहीं जन्म, वृद्धि (बाल्य, किशोर, वृद्धावस्था) तथा पूर्व जन्मों में घटित मृत्यु (यह अनुमान है कि जैसे इस शरीर की मृत्यु होती है, उसीप्रकार पहले भी हुई है व आगे भी होगी) आदि के भी साक्षी आत्मा सत्स्वरूप है। वह एक सतत् शाश्वत साक्षी चैतन्य ही है। सबमें जो होने (**BEING**) का भाव अभिव्यक्त सत् होता है, वही आत्मा का स्वरूप है।

शिष्य:- ठीक है । अब चित् स्वरूप क्या है?

सद्गुरूः- यह तो स्वयं ही अभिव्यक्त है, जो होश, सावधानता, सजगता प्रत्येक में है, जो तीनों अवस्थाओं को प्रकाशित करता है तथा सापेक्ष मिथ्या अहं को भी उजागर करता है। इसप्रकार आत्मा का चित् स्वरूप सर्वविदित है।

शिष्य:- अच्छा तो आनन्द स्वरूप क्या है?

सद्गुरूः- आत्मा तो आनन्द ही है, जैसे मिश्री तो मीठा स्वरूप ही है, कण-कण में मिठास है। अर्थात् "पूर्ण" है, अतः अभाव के अभाव में पूर्णता ही शेष रहता है। निरतिशय सुख तो पूर्ण संतुष्टि, तृप्ति एवं पूर्णता में ही है। सर्वोत्कृष्ट आनन्द जो कि तुलनातीत है, वही आत्मा का "आनन्द स्वरूप" है।

शिष्य:- परन्तु एक संशय उभर रहा है। गुरूदेव! सुख तो अनात्म पदार्थ से भी मिलता है, क्या वे आनन्ददायक नहीं है ? जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि तो आनन्द देते है।

सद्गुरूः- नहीं! ऐसा नहीं है।

शिष्य:- क्यों नहीं है ? स्पष्ट करने की कृपा करें।

सद्गुरूः- उपर्युक्त विषयों से जो कि दृश्य भोग वस्तुएँ है, उनमें सुख निहित नहीं है अर्थात् अपने आप में वे सुखदायक नहीं है। बल्कि वासनायुक्त चिदाभास के लिए ही वे प्रिय या अप्रिय होकर सुख-दुःख देते है। पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, धन-सम्पत्ति, घर-परिवार, शीतल मनोहर लेप, सुन्दर गंध आदि अपने आप में सुखदायक नहीं है, आसक्त, वासनापूर्ण चिदाभास के लिए अनुकूल होने पर प्रिय, सुखदायक है, वहीं प्रतिकूल पड़ने पर दुःखदायी होते है। हमेशा हर एक को हर स्थान व हर परिस्थिति में सुख नहीं दे सकते है।

शिष्य:- फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि वे अपने आप में सुखदायक नहीं है, सुन्दरता तो सबको भाती है?

सद्गुरूः- यदि वें सुखदायक होते तो हमेशा ही ऐसे रहना चाहिये था, एक समय वे ही सुखदायक लगते है तथा अन्य समय में वे ही जी मचलाने की स्थिति में ला खड़ा करते है।

शिष्यः- नहीं समझा, वह कैसे?

सद्गुरूः- उदाहरणार्थ नारी को ही लो, जब आदमी कामनापूर्ण होता है, तब वह प्रिय व सुखदायक लगती है, पर जब ज्वर से पीड़ित होता है या अन्य असाध्य बीमारी से ग्रसित होता है, तब उसे उसकी उपस्थिति भी अच्छी नहीं लगती है। जो आदमी वीतरागी, महात्मा हो जाता है, तब नारी के प्रति उसकी किंचित मात्र भी रूचि नहीं रहती है। इसप्रकार एक ही नारी कभी प्रिय लगती है, अप्रिय लगती है या कोई रूचि नहीं जगाती है, उदासीनता को बढ़ाती है। इसीप्रकार सभी विषयभोगों के लिए भी समझों । अतः अनात्म विषय, कभी सुखदायक नहीं होते है।

शिष्यः- तो, फिर आत्मा प्रिय व सुखदायक है?

सद्गुरूः- निश्चित ही, निःसंदेह हमेशा प्रिय है। कभी भी ऐसा महसूस नहीं होता है कि वह अप्रिय है।

शिष्यः- जब व्यक्ति असह्य, असाध्य पीड़ा में होता है तब वह आत्महत्या भी कर लेता है। तो यह कैसे कहते है कि हमेशा आत्मा प्रिय व सुखदायक ही है?

सद्गुरूः- (मुस्कुराते हुए) बेटा! जो आत्महत्या है, वह तो शरीर की हत्या है, जिस असाध्य पीड़ा को दुःखी होकर अन्त करने की सोचता है, वह तो

उसके लिए आगंतुक (**ALIEN**) है, अपने से भिन्न है, जो इनको छोड़ने की सोचता है, वह तो शरीर त्याग पश्चात् भी तो रहता है। उसने अपने को कहाँ छोड़ा ? स्वयं को इतना पसन्द करता है कि ऊपर से आए हुए कष्ट को हटाना चाहता है, आत्मा को तो कोई छोड़ ही नहीं सकता है, फिर छोड़ेगा कैसे?

यदि कोई दूसरा है, जो इस आत्मा को छोड़ रहा है, तो कोई दूसरे का होना जरूरी है। तब उस दूसरे के लिए अन्य तीसरे का होना जरूरी है। इसप्रकार अनवस्था का दोष आ जायेगा। जबकि वह तो अपने से भिन्न पीड़ायुक्त शरीर को वही त्याग रहा है, जो कि शरीर नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी पता लगता है कि जो शरीर कभी अत्यन्त प्रिय लगता था, वह तो अनात्म है तथा अनात्म कभी भी सुखदायक नहीं है तथा आत्मा ही आनन्दपूर्ण है, यह पता चलता है।

शिष्य:- पर यह कैसे प्रमाणित होता है कि अनात्म हमेशा दुःखदायी है तथा आत्मा हमेशा आनन्दपूर्ण है?

सद्गुरूः- देखो! जो स्वरूपतः होता है, वह कभी भी अप्रिय नहीं लगता है, यदि आत्मस्वरूप दुःखदायी होता तो कभी भी दुःख के प्रति नफरत या अप्रियता नहीं होती क्योंकि अन्य सामान्य स्थिति तब मालुम ही नहीं रहती। यदि सरदर्द सामान्य स्थिति होती तो उसके निवारण का उपाय नहीं करते कोई भी। चूंकि अपना स्वरूप आनन्दपूर्ण व प्रिय है, अतः व्यक्ति शरीरादि के रूप में जो दुःख है, उससे कतराता है एवं पसन्द नहीं करता है। शरीरादि सब पीड़ा व दुःख के ही रूप है। बीमारी अस्वाभाविक व आगंतुक होने से अप्रिय लगती है। जिस प्रकार बीमारियाँ स्वाभाविक नहीं, तात्कालीक, आगंतुक होती

है, जिसे व्यक्ति नापसन्द करता है। इसीप्रकार शरीर को भी नापसन्द ही करता है। इससे पता लगता है कि शरीरादि स्वाभाविक नहीं है तथा अपने शाश्वत सत्य आत्मस्वरूप में ही सच्चा आनन्द है। अतः जब किसी कारणवश शरीर के प्रति तीव्र हठात् नफरत उत्पन्न हो जाती है, तब वह उससे छुटकारा पाने की कोशिश करता है, पर स्वयं से कभी छूटने का प्रयत्न नहीं करता है। अतः इससे पता लगता है कि शरीर तो आत्मा नहीं है। आत्मा कभी भी अप्रिय नहीं हो सकती है, सभी के प्रिय पसन्द की वस्तु आत्मा ही है।

शिष्य:- यद्यपि आत्मा नापसन्द की वस्तु नहीं हो तथापि वह तो उदासीनता व उपेक्षा का विषय तो हो सकती है?

सद्गुरू:- नहीं! कभी नहीं। हमेशा प्रत्येक व्यक्ति अपने को ही प्यार करता है। अनात्म जैसे मिट्टी का कण, कंकड़, घास-फूस के प्रति व्यक्ति उदासीन भाव से रह सकता है। अतः आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है कि कभी-कभी नापसन्द वाली हो, जैसे शरीर, स्त्री आदि या कंकड़, पत्थर, घास जैसे के प्रति जो भाव हो, ऐसा आत्मा के प्रति भाव नहीं हो सकता है। वह आत्मा तो हमेशा आनन्द ही होती है।

शिष्य:- अच्छा, तो आत्मा यदि हमेशा ही प्रिय है तथा पाँच विषय भी तो भोग के दौरान प्रिय लगते है, अतः सभी को प्रियत्व की कोटी में क्यों न रखा जाएं?

सद्गुरू:- पुत्र! तुम आत्मानंद को विषयानंद से तुलना कर उनको समान करार नहीं दे सकते हो। विषयसुख तात्कालिक है तथा जो अभी सुखदायक अनुभव हो रहा है, वह दूसरे विषय की लालसा में फीका पड़ जाता है अथवा

उसी विषय को ज्यादा मात्रा में पाने की अपेक्षा में लग जाता है। सुख के अनुभव के भी स्तर होते है (**DEGREES OF PLEASURE**) तथा अनगिनत विषयवस्तु है। विषयों में सुख अस्थिर, चंचल होता है। सुख वास्तव में विषयों में छिपा नहीं है पर विषयी के उसके प्रति मोह के कारण सुख अनुभव होता है। उदाहरणार्थः- कुत्ता एक सूखी, कड़ी, निस्सार हड्डी को जोरो से चबाता है, जो उसके मसूड़ों को छिला देती है तथा खून बहने लगता है परन्तु कुत्ता यही समझता है कि खून उस हड्डी से आ रहा है एवं और जोरों से चबाता है तथा छोड़ता नहीं है। यदि उसे दूसरी हड्डी दिख जाएँ तो इसे छोड़कर उसकी ओर दौड़ता है। इसीप्रकार मनुष्य भी अपने आनन्दमय स्वरूप को उन घृणात्मक विषयों पर थोंपकर, भ्रम से सुख को उन पर आरोपित करता है। वास्तव में विषयों में सुख नहीं है। आदमी के अज्ञान के कारण जो दुःख भरे विषय है, उन पर प्रियता का आरोप करता है। यह सुख जो कि तथाकथित है, अस्थिर, अपूर्ण है, जबकि आत्मसुख बेशर्त, पूर्ण व स्थिर होता है। आत्मसुख बिना शर्त के होने के कारण शरीरादि के छूटने पर भी बरकरार रहता है। अतः आत्मा के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मसुख ही वास्तविक सुख है तथा विषयसुख तो दुःख की गोली है, जिस पर मिथ्या सुख का लेप चढ़ा गया है।

शिष्य:- समझ में आया। अब बताएँ कि सत् चित् आनन्द जो है, आत्मा का गुण है या स्वरूप?

सद्गुरूः-	ये आत्मा के गुण नहीं है, पर वही है। जैसे अग्नि का स्वरूप ही गर्मी, प्रकाश व लालिमा है तथा ये आग के गुण नहीं है। इसीप्रकार सत् चित् आनन्द तो आत्मा के स्वरूप ही है।

शिष्यः-	यदि ये तीन है, तो आत्मा भी तीन है, क्या?

सद्गुरूः-	ना! ना! आत्मा तो एक है। जैसे अग्नि यदि गर्मी, प्रकाश, लालिमा दिखाती है, तो आग तीन नहीं बल्कि एक ही है। जल का स्वरूप तो ठंडक, तरलता, स्वादरहित होना है, पर एक ही है।

शिष्यः-	यदि आत्मा एक ही है तो उसे सर्वव्यापक कैसे कहा जाता है ?

सद्गुरूः-	जैसे स्वप्नदृष्टा पूरे स्वप्न प्रपंच में व्याप्त है, सबको जान रहा है। यह इसलिए कहना दुरूस्त है कि आत्मा तो सर्वव्यापक है, क्योंकि वही एक है, चित् स्वरूप होने से सब जानता है, सर्व में है, बाहर भी है, सर्वज्ञ है।

शिष्यः-	यदि सबके अन्दर है एवं पंचकोशों के साक्षी है तो एक ही शरीर में जानने वाला हो सकता है, सर्वज्ञ कैसे?

सद्गुरूः-	हाँ! यह संभव है। स्वप्नदृष्टा तो स्वप्नजीवियों के रूप में सर्व को जानता है। यह जगत जो पंचभूतात्मक है, जड़ है, जो अपने को भी नहीं जानता है व दूसरे को भी नहीं जानता है, केवल आत्मा ही सर्व को जानती है, अन्य नहीं, जो मायामय है।

शिष्यः-	आत्मा तो वही जान सकती है, जो पाँच इन्द्रियों से ग्रहण होता है, उससे आगे नहीं तो वह मेरू पर्वत, स्वर्गादि को कैसे जानेगी?

सद्गुरूः- स्वप्नदृष्टा से कुछ भी छिपा नहीं है। वह सबको जानता है। चिदाकाश स्वरूप आत्मा में सभी अनात्म दोनों प्रकार से झलकता है। यथा इन्द्रियों से ग्राह्य-अग्राह्य इसी चिदाकाश रूपी पर्दे पर घर, जमीन, गाँव, शहर, देश, जो इन्द्रियग्राह्य है, दिखाई देते है तथा जो ग्राह्य नहीं है, जैसे स्वर्ग-नरक आदि भी केवल विचार होने के नाते दिखाई देते है।

शिष्यः- क्या जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, वह भी कभी दिखाई दे सकता है?

सद्गुरूः- हाँ। अवश्य। मन में बीजरूप से स्थित संस्कार जब फूटते है, तब घर, गाँव आदि के रूप में दिखता है, जो कि इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य जैसे दिखता है, पर है बांझपुत्र समान। चिदाकाश में सजीव जैसे होकर झलकते है। सबकुछ मनःकल्पित है। यद्यपि मेरू पर्वत, स्वर्ग मिथ्या ही मन द्वारा कल्पित कर लिया जाता है, जो कि चिदाकाश में मरीचिका जैसे दिखाई देते है। सब कुछ मन में ही दिखते है, बाहर नहीं।

शिष्यः- पर गुरूजी! यह कैसे होता है?

सद्गुरूः- सरल है। जैसे स्वप्न व मनोराज्य में दृष्टा के समक्ष इन्द्रियों के विषयरूप में घरबार, देश आदि दिखते है, वैसे ही स्वर्गादि क्यों नहीं दिख सकते है ? इसीप्रकार जाग्रत में भी होता है। जैसे कोई कहे कि स्वर्ग नहीं जानता तो इसका मतलब है कि उसमें स्वर्ग सम्बन्धी कल्पना तो है। सब कुछ चिदाकाश में ही है-अपने में ही वह सब देख रहे है।

यदि आत्मा केवल एक शरीर के अन्तर्गत ही होता व पंचकोशों का साक्षी मात्र होता तो सर्वज्ञ नहीं कहलाएगा, संभव नहीं है। पर चिदाकाश

में ही मन रूपी माया दूर, निकट, ज्ञात, अज्ञात, इन्द्रियग्राह्य सब कुछ कल्पित कर लेती है। जैसे दीवार पर बने चित्र में सर्वत्र दीवार ही अनुस्यूत है, उसीप्रकार चिदाकाश अधिष्ठान स्वरूप होते हुए सर्वत्र व्यापक है एवं सर्वज्ञ भी है। अतः सबमें वही है, इसमें संशय नहीं है।

शिष्य:- यदि व्यापक है, चैतन्य तो सबमें मिश्रित हो गया होगा तथा कलुषित हुआ होगा?

सद्गुरू:- नहीं! जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, पर निर्लेप, असंग है। पर यह चैतन्य तो उस जड़ आकाश से भी बढ़कर है कि वह आकाशवत् होते हुए भी अत्यन्त सजग, होशपूर्ण है तथा श्रुतियाँ घोषणा करती है कि यह "पुरुष" चिदाकाश अत्यन्त शुद्ध, निष्कल्मष है, असंग, निर्गुण है।

शिष्य:- तो फिर वह अपूर्ण होगा, क्योंकि निस्संग, निर्लेप है, परे है, अलग है, उदासीन है, तो द्वैत तो रह ही जाता है ?

सद्गुरू:- उसके अतिरिक्त या समान अन्य कुछ भी नहीं है, उसके अंश, भाग आदि नहीं है। अन्दर व बाहर अविभाजित है। वह पूर्णता ही है। आकाश सदृश्य वह सर्वत्र होते हुए भी निर्लेप व पूर्ण है।

शिष्य:- कैसे सर्वव्यापक होते हुए भी कलुषित नहीं है?

सद्गुरू:- देखो! आकाश यहाँ है, वहाँ नहीं है, "ऐसा नहीं कह सकते है।" इसीप्रकार चिदाकाश अविभाजित है। "अभी है, तब नहीं था" ऐसा भी नहीं है, वह हमेशा है। समय से भी विभाजित नहीं है। उसके अतिरिक्त न देश, काल या वस्तु ही है। अतः वह पूर्णता ही है, ऐसा साबित किया जाता है।

शिष्य:- यदि आकाश समान सर्वव्यापक है, सबको भर रहा है, तो वह परिवर्तनशील होगा?

सद्गुरू:- नहीं! सम्पूर्ण जगत्-पंचभूतादि में परिवर्तन है, सबमें अस्तित्व, पैदा होना, बढ़ना, बदलना, सड़ना, मृत्यु आदि नजर आते है, पर इन परिवर्तनों का साक्षी कभी बदल नहीं सकता है। यदि चक्र की कील स्थिर है तो ही चक्र चलता है। जब कील भी चले तो चक्र नहीं चल सकता है। एक स्थिर वस्तु के सहारे ही सभी चलने वाले पदार्थ निर्भर है। यदि ऐसा माना जाए कि आत्मा भी बदल जाती है, तो उसे भी पैदा होकर, बढ़कर, मरना पड़ेगा तथा वह भी जड़ की श्रेणी में आती परन्तु निरन्तर, सजग, होशपूर्ण आत्मा कभी जड़ वर्ग में नहीं आ सकती है तथा हमेशा परिवर्तनों की साक्षी ही रहेगी। अतः वह सभी परिवर्तनों से मुक्त है।

शिष्य:- यदि आप कहते है कि आत्मा अपरिवर्तनशील है, तो परिवर्तनशील अनात्म का भी अस्तित्व है, ऐसा लगता है। तो फिर आत्मा को "अद्वैत" कैसे कहा जाता है ? द्वैत तो फिर बरकरार रहेगा?

सद्गुरू:- नहीं! आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वह तो अद्वैत है। जब अनात्म, मिथ्या, मरीचिकावत् है तो द्वैत कहाँ से आया ? तप्त बालुओं पर जल जो दिख रहा था, वह था ही नहीं तो बालु को गीला कैसे करेगा ? वहाँ दो थे ही नहीं।

शिष्य:- अच्छा! पर अनात्म आत्मा से अलग नहीं है तो यह कैसे हो सकता है?

सद्गुरूः- सभी का स्त्रोत (**ORIGIN**) आत्मा ही है। कार्य कभी कारण से भिन्न नहीं होता है। स्वप्न तो स्वप्नदृष्टा से अलग नहीं है। सर्प तो रस्सी से भिन्न नहीं है, वही है। कागज पर बना चित्र कागज ही है। चित्र कल्पित है।

शिष्य:- आत्मा को सबका स्त्रोत कैसे कहते है?

सद्गुरूः- वही साक्षी, दृष्टा है। अतः स्त्रोत भी है। जैसे स्वप्नदृष्टा ही स्वप्न प्रपंच का दृष्टा, कारण, स्त्रोत सब कुछ है।

शिष्य:- परन्तु दृष्टा कैसे स्त्रोत या कारण बन जाता है ? मैं जो देख रहा हूँ, मैं उसका कारण कैसे हुआ?

सद्गुरूः- सभी भ्रम स्थानों में दृष्टा ही भ्रम का कारण होता है। जब सीपी में चाँदी देखी जाती है, तब चाँदी का कारण दृष्टा में हुआ भ्रम ही है। सीपी में कुछ परिवर्तन नहीं आया। सभी स्वप्नदृश्य का कारण व स्त्रोत स्वप्नदृष्टा ही है। इसीप्रकार जाग्रत हो भी जानो। इसका दृष्टा ही इसका कारण भी है।

शिष्य:- यदि यह विश्व पूर्ण रूप से असत्य होता तो आपका निष्कर्ष सही होता। क्या यह विश्व बांझपुत्र जैसे असत्य ही है?

सद्गुरूः- पहले यह समझ लो कि श्रुति के प्रमाण से यह पता चलता है कि प्रलय में केवल अद्वैत चैतन्य ही रहता है। सृष्टि के दौरान माया ही नामरूपात्मक जगत्, उस पर थोपती है। जैसे रस्सी पर सर्प भ्रम थोपा जाता है।

दूसरी बात है-युक्ति से पता चला है कि जगत् केवल जाग्रत में दिखता है, सुषुप्ति, स्वप्न में नहीं। जो निरन्तर नहीं है, वह भ्रमात्मक हैं।

तीसरी बात है-महापुरुषों ने ज्ञान के बाद यह घोषणा की है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है।

अतः यह विश्व पूर्णतः मिथ्या है। अतः यह सही है कि आत्मा एकमात्र साक्षी होने के नाते उसका कारण भी है (क्योंकि माया उसी की शक्ति है) पर सब मरीचिका समान भ्रम है। अधिष्ठान से अध्यस्त अलग नहीं है। जैसे तरंग, बुदबुदे, लहर, झाग समुद्र से भिन्न नहीं है, जो कि उसका स्त्रोत या कारण है, इसीप्रकार विश्व भी आत्मा पर दिखने पर भी उससे अलग नहीं है। अतः आत्मा अद्वैत ही है, उसमें द्वैत का गंध भी नहीं है।

"श्रवण" का स्वरूप है कि सद्गुरू के समक्ष बैठकर ध्यानपूर्वक वेदान्त शास्त्र (जो कि अद्वैत का बोध कराता है) को सुनना तथा उसके सारांश को मन में धारण करना ही है। यह अतिआवश्यक है।

शिष्य:- श्रवण का कार्य क्या है?

सद्गुरू:- यह अज्ञान की आवरण शक्ति को नष्ट करता है। अब तक साधक सोच रहा था कि "कहाँ है, अद्वैत आत्मा ? कहीं भी नहीं है।" अतः इसका (श्रवण का) कार्य है, अब तक जो अद्वैत ब्रह्म के अनस्तित्व का अज्ञान निष्कर्ष था, उसको नष्ट करना, यही है उसका प्रभाव।

शिष्य:- कितने समय तक श्रवण प्रक्रिया चलेगी? अवधि क्या है?

सद्‌गुरूः- जब तक यह संदेह कि “अद्वैत ब्रह्म का अस्तिव नहीं है” ऐसे विचार सिर नहीं उठाता है तब तक श्रवण की अवधि है अर्थात् संदेह का सिर न उठाना ही इसकी अवधि है।

शिष्य:- क्या एक बार संदेह निवृत्ति के बाद भी पुनः सिर उठा सकता है?

सद्‌गुरूः- हाँ यह संभव है।

शिष्य:- वह कैसे ? कृपया बताएँ?

सद्‌गुरूः- उपनिषदों में कुछ प्रतिपादन प्रारंभिक साधकों के लिए ही है। जिसमें द्वैत सम्बन्धी बातें होती है, जिसे साधक आसानी से प्रमाण मानकर बहक सकता है। उदाहरणार्थः- यदि विष्णु सम्बन्धी विवरण आता है तो उसे ही सत्य समझ कर विष्णु की उपासना करने लग सकता है। यद्यपि सद्‌गुरू द्वारा अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है, जो सारे संदेहों को निवृत्त करने में सक्षम है तथापि द्वैत शास्त्रों के पढ़ने से उसकी श्रद्धा एवं विश्वास, अद्वैत सिद्धान्त के प्रति अस्थिर व ड़िगने लगता है। अतः साधक को निरन्तर श्रवण तब तक करना उचित है, जब तक द्वैत ग्रन्थों के बारे में पढ़ने या सुनने पर भी उसकी निष्ठा अद्वैत ब्रह्म के प्रति डिग नहीं सके।

शिष्य:- श्रवण का फल क्या है?

सद्‌गुरूः- एक बार अद्वैत के प्रति जो भी संशय है, उनका नाश हो जाता है तथा कोई भी चालाक तर्क उसे इस पवित्र महावाक्यजन्य श्रद्धा से डिगा नहीं सकता है, तब इसका फल प्राप्त होता है। उसकी श्रद्धा के लिए उत्पन्न

बाधाएँ या अवरोध पूर्णतः नष्ट नहीं होते है तथा परोक्ष वेदान्त ज्ञान से, अद्वैत ब्रह्म सम्बन्ध में पूर्ण परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उसके निष्कर्ष में स्थिर जब हो जाता है, तब यह कहा जाता है कि उसे श्रवण का फल मिला।

शिष्य:- यह परोक्ष ज्ञान क्या है?

सद्गुरू:- अन्तर्यामी आत्मा के वास्तविक स्वरूप के बारे में अपरोक्ष अनुभव से नहीं पर शास्त्राध्ययन से, श्रवण से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे परोक्ष ज्ञान (**INDIRECT**) कहते हैं। जैसे विष्णु के बारे में शास्त्रों में पढ़ने से व्यक्ति उसकी उपस्थिति के बारे में विश्वास कर लेता है जिसे सामान्य ज्ञान कहते है। इसीतरह अद्वैत ब्रह्म के बारे में अद्वैत शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त करना तो सामान्य ज्ञान या परोक्ष ज्ञान है।

शिष्य:- ऐसा क्यों कहा जाता है कि श्रवण से परोक्ष ज्ञान ही होता है, न कि अपरोक्ष?

सद्गुरू:- नहीं। ऐसा इसलिए सम्भव नहीं है कि अज्ञान का आवरण जिसे अभानावरण कहते है, वह अन्तरात्मा “मैं” को प्रकाशित नहीं होने देता है। केवल आत्मा या “मैं” के होने के बारे में सुनने मात्र से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है। उसके लिए सजग निर्विचार होकर अपने अस्तित्व में स्थित रहने की अपेक्षा है, तभी अपरोक्ष ज्ञान होता है।

शिष्य:- क्या अन्य महापुरुषों द्वारा भी इसमें सहमति है?

सद्गुरू:- अवश्य! श्री विद्यारण्य स्वामी ने “ध्यान दीपिका” में कहा है कि “श्रवण द्वारा साधक यह समझ लेता है कि मैं या आत्मा सत्, चित्, आनन्द

ही है परन्तु वही पंचकोशों का साक्षी है आदि अपरोक्ष रूप से नहीं जान पाता है। जैसे विष्णु के बारे में वर्णन सुनकर कि वे चतुर्भुजधारी है, चक्र, शंख, गदा, पद्म धारण करते है, उनका काल्पनिक चित्र भी उभर सकता है, एकाग्रता के कारण पर उन्हें प्रत्यक्ष तो देख नहीं सकता है। इसे ही परोक्ष ज्ञान कहते है।"

अतः स्पष्ट है कि शास्त्रों के पठन, श्रवण से सिर्फ परोक्ष ज्ञान ही मिलता है, न कि अपरोक्ष ज्ञान। अतः श्रवण से समझ ही बढ़ती है।

शिष्य:- यहाँ पर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें तो विष्णु अपने आत्मा से भिन्न है। अतः यह न्यायोचित है कि उनके बारे में ज्ञान परोक्ष ही हो। पर ब्रह्म तो अपने "मैं" से भिन्न नहीं है। इसलिए अज्ञानी साधकों के सामने श्रुति कहती है कि तुम्हारा परिचय गलत है। "तुम तो वही हो" तत्वमसि तुम आत्मा ही हो। अतः चूँकि उसका "मैं" तो अभी और यहीं मौजूद है, तो श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं हो सकता है ? यह स्वर्ग कैलाश जैसे परोक्ष नहीं है। अतः श्रवण का अंत तो अपरोक्ष अनुभव में ही परिणत होना चाहिए?

सद्गुरूः- नहीं, ऐसा नहीं हैं। यद्यपि श्रुति यह घोषणा करती है कि "तुम वही हो" यह सत्य है तथापि "मैं" में स्थिति केवल श्रवण से नहीं हो पाती है। जब तक साधक मौन, सजग अवस्था में "मैं" की खोज नहीं करता है, तब तक संभव नहीं है। पहले उसे श्रवण किए गए सत्य का मनन करना जरूरी है, जुगाली करना अनिवार्य है।

यहाँ पर यह श्रवण सम्बन्धी अध्याय समाप्त होता है। जो इसे ध्यानपूर्वक पढ़ेगा उसे परोक्षज्ञान मिलता है। परन्तु अपरोक्ष अनुभूति के लिए उसे मनन करना पड़ेगा। अब "मनन" के स्वरूप के बारे में हम चर्चा करेगे।

-:अध्याय पाँच - मनन:-

शिष्य:- पूज्य गुरूदेव। आपकी कृपा से आत्मा के स्वरूप के बारे में श्रवण करने के बाद बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है, पर यह ज्ञान तो परोक्ष ही है। कृपया बताएँ कि मनन क्या है ? जिसे अभ्यास करके तथा आत्मस्वरूप को जानने से बाधा बन रहे अज्ञान-अंधकार को दूर करके "मैं" अपरोक्ष अनुभूति पा सकूँ।

सद्गुरू:- मनन उसे कहते है, जिसमें सतत् अद्वैत ब्रह्म सम्बन्धी परोक्ष ज्ञान को ढक रहे अज्ञान को सूक्ष्म अभेदसाधक युक्तियों द्वारा तथा भेदबाधक युक्तियों द्वारा विश्लेषण करके एक निष्कर्ष पर पहुँचना ही है।

शिष्य:- कृपया मनन के हेतु, स्वरूप, कार्य, अवधि व फल के बारे में भी स्पष्ट करें।

सद्गुरू:- इसका हेतु या कारण है, सत्य-असत्य का विवेचन जिसे विवेक कहते है। इसका स्वरूप है, अद्वैत ब्रह्म सत्यस्वरूप का निरीक्षण व विचार, इसका कार्य या प्रभाव है। अभानावरण (मैं का पता नहीं चलता है, वाली धारणा) का फट जाना; इसकी अवधि है, उस आवरण का पुनः सिर न उठाना; अपरोक्ष अनुभूति ही इसका फल है। ऐसा ज्ञानी महापुरुषों का कथन है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! विवेक को मनन का कारण क्यों बताया?

सद्गुरूः- देखो, विवेक के कारण ही (सत्य-असत्य के छानबीन को विवेक कहते हैं) तुम यहाँ आए हो तथा परोक्ष ज्ञान प्राप्त किए हो। इसके बाद ही तुम अपरोक्ष अनुभूति के लिए आवश्यक आत्मविचार के लिए लायक बनते हो। कोई अन्य विधि आत्मखोज के लिए सक्षम नहीं है।

शिष्य:- पर मुमुक्षुता भी तो मनन का कारण हो सकती है?

सद्गुरूः- केवल मुमुक्षुता मात्र आत्मविचार के लिए पर्याप्त नहीं है। श्रवण के बिना परोक्ष ज्ञान नहीं उपलब्ध हो सकता है। तब वह आत्मविचार प्रक्रिया में कैसे लग सकता है ? सर्वप्रथम तो आत्मस्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त करना जरूरी है, तभी वह सांख्य में लगने के लिए काबिल होता है। आत्मस्वरूप के बारे में जानकारी नहीं होने पर वह कैसे विचार, विश्लेषण व युक्ति ढूंढने में सफल हो सकता है। अतः केवल एक सरल रूप मुमुक्षुता अपर्याप्त साधन है, इस क्षैत्र के अंतिम फल पाने में।

शिष्य:- क्यों मुमुक्षुता साधक को आत्मविचार में लगा नहीं सकती है ? जब व्यक्ति में तीव्र, गहरी, प्रबल मुमुक्षुता उठती है, तब वह आत्मस्वरूप के बारे में श्रवण करने लग जाता है, जिससे उसे परोक्षज्ञान मिलता है तथा वही उसे आत्मविचार में लगा सकता है। ऐसा नहीं है क्या?

सद्गुरूः- तुम्हारे कथन का अर्थ कुल मिलाकर यही बनता है कि उस साधक में विवेकवती बुद्धि भी है, जिससे वह अपनी बुद्धि को श्रवण में लगा रहा है। श्रवण से उसमें बौद्धिक विवेचन की क्षमता आती है, जिससे सत्य-असत्य की व आत्म-अनात्म की पहचान हो जाती है। यही परोक्ष ज्ञान है।

शास्त्रों में कथन है कि जो परोक्ष ज्ञान से युक्त है, वही सत्यरूप स्वयं को मिथ्यारूप अनात्म से अलग कर सकता है तथा वही इस सांख्य मार्ग के लिए अधिकारी है। अतः आत्मविचार के लिए विवेक अनिवार्य आवश्यकता है।

शिष्य:- अच्छा! ठीक है। यदि मनन के लिए मुमुक्षुता को विशेष हेतु न भी मानें पर वैराग्य या कर्माधिक्य से मुक्ति क्या मनन का कारण नहीं बन सकता है?

सद्गुरूः- बेटा! ये सब मनन के लिए सामान्य सहायक कारक है, न कि विशेष (**PARTICULAR**) कारण। कोई वैराग्यवान शांत व्यक्ति को, यह जरूरी नहीं है कि वह आत्मा के परोक्षज्ञान की जानकारी हो, अतः इस मार्ग के लिए वह काबिल नहीं है। कितने ऐसे तपस्वी हुए है, जो वैराग्य से पूर्ण है, कर्म भी नहीं करते हैं, पर मोक्ष के लिए उनमें प्रबल इच्छा नहीं है, चूँकि मुमुक्षुता का अभाव है, अतः वे आत्मा के बारे में पढ़ा-सुना भी न हो।

शिष्य:- यह कैसे कह सकते है कि उनमें मुमुक्षुता का अभाव है ? हो सकता है कि उन तपस्वियों में ऐसी इच्छा भी हो?

सद्गुरूः- ऐसे लोग श्रवणादि में न लगकर स्थूल तप, जप, व्रतादि में ही व्यस्त रहते है। चूँकि श्रवण ही एकमात्र द्वार है, मुक्ति का तथा उसके अभाव में यह अनुमान लगाया जाता है कि इन तपस्वियों में मुमुक्षुता का अभाव है।

शिष्य:- पर गुरूदेव। इसे मैं नहीं मान सकता। माफ करना-वे भी मुमुक्षु हो सकते है, अंदर से।

सद्गुरूः- यदि उनमें मुमुक्षुता है तो वे इन स्थूल कार्यो को त्याग कर, गुरू के सान्निध्य में रहकर, आत्मा सम्बन्ध में श्रवण करते तथा आत्मविचार में लग जाते। यदि कहो कि उन्होंने श्रवण कर भी लिया होगा तो उन्हें परोक्ष ज्ञान तो होगा ही, फिर वे आत्मविचार में क्यों नहीं लगे ? चूँकि उन तपस्वियों ने श्रवण नहीं किया है। (यद्यपि वे वैराग्यवान एवं शांत है) अतः उनमें सत्यासत्य का विवेचन व विवेक का उदय नहीं हुआ है, अतः सांख्य के लिए काबिल व लायक नहीं है। विवेक यानि नित्य-अनित्य का विवेचन ही इसका मुख्य हेतु है।

शिष्य:- क्या इसका यह मतलब है कि वैराग्य व शांत तपस्वी लोग आत्मविचार में लगकर तपस्या के द्वारा आत्मज्ञान नहीं पा सकते?

सद्गुरूः- कदापि नहीं! विचाररहितता के कारण अब आत्मा से विमुख हुए है तथा अज्ञान में डूबे है। अतः स्पष्ट है कि विचार द्वारा ही आत्मविस्मृति को दूर कर सकते हैं। जैसे अंधा आदमी कितने ही व्रत, उपवास, जाप कर लें, खोई दृष्टि नहीं पा सकता। पर आँखों के इलाज से ही संभव होगा। इसीप्रकार अज्ञान, अंधकार ज्ञान के प्रकाश से ही दूर होगा। इसीप्रकार जिस अज्ञानी की आँखे विचाररहितता के कारण उत्पन्न अंधेरे से मंददृष्टि हो गई है। उसके मानसिक चक्षुओं पर पड़े आवरण हटाकर दृष्टिदोष दूर करने वास्ते आत्मविचार के अलावा कोई इलाज नहीं है। आत्मस्थिति तब तक नहीं पा सकते है, जब तक विचार से ज्ञाननैत्र नहीं खुल जाते हैं।

शिष्य:- यह कैसे वह करेगा?

सद्‌गुरूः- पंचकोशों के भीतर शरीर, इंद्रियों आदि में तथा इनसे परे भी स्थित इस “मैं” का एकाग्र-बुद्धि से तलाश करके यह पता लगाएँ कि “यह ’मै’ कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?” तो इसी खोज को ही आत्मविचार कहते है। इसके लिए सूक्ष्म, एकाग्र, निष्ठावाली बुद्धि की जरूरत है, जो इन मिथ्या कोशों को नकारकर शाश्वत, अपरिवर्तनीय “मैं” तत्व में स्थित हो सके।

शिष्य:- पर गुरूदेव! पहले आपने कहा था कि आत्मा सर्वव्यापक है, तो कैसे एक शरीर के पंचकोशों के भीतर उसे खोजा जाए ? दूसरी बात आप यह भी कहते है कि ये कोश तो मिथ्या है। कैसे मिथ्या कोशों के परीक्षण, निरीक्षण से सत्य वस्तु की पहचान हो सकती है ? मुझे बड़ा संदेह उत्पन्न हो रहा है। कृपया स्पष्ट करें?

सद्‌गुरूः- हाँ यह सत्य है कि आत्मा सर्वव्यापक है। परन्तु इन पाँच कोशों से वह सीमित लग रहा है। इन सीमित कोशों को, जो कि आवरण का काम कर रहे है, जब तक हटा नहीं देते हैं, तब तक सत्य का पता नहीं चलता है। अतः “मैं” की खोज इन्हीं के अन्दर होना पड़ेगा, अन्य जगह नहीं। जो वस्तु जहाँ खोई है, वहीं उसे ढूंढ़ना बुद्धिमानी है, अन्यत्र नहीं। घर में वस्तु खोई है और जंगल में ढूंढो तो नहीं मिले। इसीप्रकार जो पंचकोशों के भीतर छिपा है तथा तादात्म्यता से पहिचान में नहीं आ रहा है, उसे तो तभी पा सकते है, जब इन अवांछित तत्वों को छान लेते है, यहाँ पर पंचकोशों को छानने से मतलब है।

शिष्य:- गुरूदेव! मेरा प्रश्न यह है कि हम मिथ्या कोशों के छानबीन से सत्य वस्तु की पहिचान कैसे कर सकते है?

सद्‌गुरूः- चूँकि ये मिथ्या कोश बादलों सरीखे आत्मा पर छाये हुए है, जैसे सूर्य को ढ़के बादलों का हटना, प्रकाश पाने के लिए जरूरी है, इसीप्रकार सत्य जो मिथ्या आवरण से ढ़का हुआ है, उसे पहिचानने के लिए आवरण भंग जरूरी है। जैसे मरीचिका तप्त बालु रेत को ढ़की हुई है, पर परीक्षण से मिथ्या हो जाती है। इसीप्रकार अधिष्ठान पर भासते हुए आवरण सही परीक्षण, निरीक्षण व विचार से दूर होता हैं। जो भी मिथ्या वस्तु अधिष्ठान या आधार पर थोपी गई है, इस बाह्य जाल को गौर से देखकर हटा लें, तो सत्य वस्तु झलकती है। मान लो, किसी को मंद अन्धेरें में रस्सी पर सर्प भ्रम हो रहा है, यदि वह उस सर्प के स्वरूप के बारे में जिज्ञासा, परीक्षण, निरीक्षण नहीं करता है, तो भ्रम निवारण नहीं होगा। उसे प्रकाश लाना ही पड़ेगा, जिससे वह पहिचान सके। तभी पता लगता है कि सर्प मिथ्या था व रस्सी पर थोंपा गया था, हमेशा रस्सी ही तीनों कालों में रही है, सर्प केवल प्रकाश की कमी से उपस्थित हो गया था। क्या ऐसा कोई है जो सर्प भ्रम का निवारण बिना प्रकाश के कर पाया है? “अधिष्ठान” रस्सी तो सही परीक्षण से उजागर हो ही जाती है। इसीप्रकार श्रवण द्वारा प्राप्त परोक्षज्ञान से यह जानकारी मिलती है कि पंचकोश मिथ्या एवं “मैं” को ढ़के हुए है। परन्तु कुशाग्र बुद्धि से साधक इस परोक्ष ज्ञान की सहायता से गहराई तक जाकर उसकी सत्यता को जान सकता है। जैसे इस स्थूल शरीर को अनुभव कर रहे हो कि स्पष्ट रूप से यह भोजन से निर्मित है। अन्नमयकोश इसी को कहते है, यह भी एक आवरण है, “मैं” पर। क्योंकि इससे “मैं” तादात्म्य कर लेता है। इसके अतिरिक्त जो चार कोश है, जिसे सामान्य व्यक्ति नहीं जानता है, उनके बारे में सद्‌गुरू व सत्शास्त्रों से पता चलता है कि उनकी विशेषताएँ, स्वभाव क्या-क्या है ? इन्हें पहिचानकर

परीक्षण करके हटा देने से ही उनका साक्षी, सत्चित् स्वरूप, सूक्ष्म “मैं” की पहिचान होती है।

शिष्य:- अच्छा! ठीक है। जब इन कोशों को परीक्षण, विचार तथा सतत् निरीक्षण द्वारा हटाते है, तो उसके बाद आत्मस्थिति कैसे पाई जा सकती है?

सद्गुरूः- सर्वप्रथम तो “अभानावरण” को हटाने के लिए (जो कि श्रवण का कार्य या प्रभाव कहलाता है) निरन्तर “मैं” सम्बन्धी मनन करना जरूरी है।

शिष्य:- यह कैसे किया जाता है?

सद्गुरूः- जिस प्रकार प्रकाश से रस्सी वाला सर्प, जो वास्तविक रस्सी को ढ़क रहा था, रस्सी के अज्ञान का नाश करता है, उसीप्रकार “मैं” जो पंचकोशों का साक्षी है, पर जिसे पंचकोश इस अज्ञान से ढ़क रहे है कि “मैं” का पता नहीं चलता है (अभानावरण) का भ्रम तीव्र परीक्षण, खोज से नष्ट हो जाता है। जैसे बादलों के हटने से सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश से नजर आता है, वैसे ही आत्मा का आवरण हटने से अपने पूर्ण ज्योति से प्रकाशता है। अतः आत्मविचार जरूरी है।

शिष्य:- कितने समय तक आत्मविचार करना है?

सद्गुरूः- जब तक अभानावरण सिर नहीं उठाता है, तब तक इसकी अवधि है। अतः अभ्यास चालू रखों।

शिष्य:- क्या एक बार हटने के बाद भी पुनः आवरण ढ़क सकता है?

सद्गुरूः- हाँ! जब तक संशय पूर्णरूप से निवृत्त नहीं होता है, तब तक अज्ञान मौजूद रहता ही है, अतः इसकी संभावना है।

शिष्य:- जब मनन द्वारा यह पक्का हो जाता है कि माया रूपी पंचकोशों से परे चिदाभास ही है, तब भी संदेह रह सकता है, क्या?

सद्गुरूः- जब पंचकोशों को नकारकर कि वे मिथ्या है, शुद्ध "मैं" में स्थित होने पर पहले लगेगा कि यह अनूठी, आकाश से सूक्ष्म, सजग स्थिति है, पर वह शून्य सा लग सकता है। तब एक अव्यक्त भय उत्पन्न हो सकता है कि आधाररहित शून्य "मैं" हूँ - निराधार हूँ, कोई थाह नहीं है आदि।

शिष्य:- यह कैसे संभव है?

सद्गुरूः- पंचभूत व त्रिगुण से परे होने के नाते इन मायामय दृश्य से "मैं" का कुछ भी रिश्ता-नाता नहीं रह जाता है। जब दृश्य आकाश रूप हो जाते है, तब जो शून्यता का अनुभव होता है, वह भी माया के अन्तर्गत है। आत्मा, चैतन्य, शून्य से भी परे है। अतः जब पहले ऐसा अनुभव होता है, तब वह अनोखा व भयोत्पादक (**UNEARTHLY**) लग सकता है। भय के कारण वह सोचता है कि "यह ब्रह्म है क्या ? नहीं, नहीं, यदि ब्रह्म है तो इतना शून्य कैसे हूँ ?" जब वह अनुभव भी करता है, अपने शुद्ध "मैं" को, तब भी अपने अनुभव के प्रति उसका आत्मविश्वास (**SELF CONFIDENCE**) की कमी रहती है। इसमें एक महान् संदेह उभर सकता है कि क्या "मैं" स्थित हो गया क्या ? यह स्थिति क्या है ? क्या असंभव को मैंनें संभव कर लिया ? क्या व्यक्ति नहीं रहा? क्या व्यापक हो गया ? वह इसे असंभव मानने लगता है तथा बड़े संदेह

में जूझने लगता है। परन्तु एकान्त में बैठकर बार-बार मनन करने पर इस असंभव भाव की निवृत्ति हो जाती है। इस विषय में व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र में कहा है कि “आवृत्ति असकृदुपदेशात्” बार-बार शास्त्रीय निर्देशों का पुनरूक्ति, आवृत्ति करना अनिवार्य है। पुनः पुनः श्रवण, मनन, ध्यान की जरूरत है।

शिष्य:- अच्छा! इस मनन का फल क्या है?

सद्गुरूः- निरन्तर अभ्यास व मनन से आवरण भंग होता है तथा इसे स्वयं का एकाकीपन (कैवल्य भाव) से प्रकाशित होने सम्बन्धी असंभव भाव की निवृत्ति होती है। तब सारे अवरोधों के हटने से उपरोक्त अनुभूति होती है। करतलामलकवत् सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

शिष्य:- यह अपरोक्ष अनुभूति क्या है?

सद्गुरूः- जैसे सूर्य को बादलों से ढ़के रहने पर भी पहिचान लेते है, वैसे ही स्वयं को चिदाभास से पृथक पहिचान लेते है। (चिदाभासत् = **CONSCIOUSNESS**, आत्मात् = **AWARENESS**) यही अपरोक्ष अनुभूति है, यही मनन का फल है।

मेरे बुद्धिमान पुत्र! तुम्हें मैंनें मनन के बारे में सविस्तार समझा दिया है। अब तुम्हें ही पंचकोशों का विवेचन कर उन्हें नकारना है कि वें मिथ्या है तथा अन्तर्मुख होकर अपने “मैं” को पहिचानना होगा व उसी में स्थित रहना होगा।

शिष्यः- अहो! परमदयालु गुरूदेव, मैं कितना ही निरीक्षण, विचार करूँ पर मैं पंचकोशों से अन्तर्यामी आत्मा को अलग करके पहचान नहीं पा रहा हूँ, मैं अपरोक्ष रूप से "मैं" को नहीं पता लगा सकता हूँ, ऐसा क्यों हो रहा हैं ?

सद्गुरूः- यह तो अनादि अज्ञान के कारण है।

शिष्यः- यह अज्ञान कैसे उत्पन्न हो गया?

सद्गुरूः- उपर्युक्त आवरण के कारण।

शिष्यः- पर बताएँ कृपा करके कि कैसे यह आवरण ढ़कता है?

सद्गुरूः- यद्यपि आत्मा का स्वरूप तथा चिदाभास (EGO) दोनों परस्पर भिन्न है (जैसे स्वप्नजीवी व स्वप्नदृष्टा) यह आवरण दोनों को समान सा दिखाता है।

शिष्यः- नहीं! गुरूदेव! मेरी समझ में नहीं आया, कृपया स्पष्ट करें?

सद्गुरूः- जैसे रस्सी के अज्ञान से यह लगता है कि वह सर्प ही है, जबकि रस्सी व सर्प दानों भिन्न है। इसीप्रकार नींद में निहित आवरण के कारण स्वप्नरूपी विकृत दृश्य (जाग्रत की तुलना में अस्पष्ट रूप से) दिखाई देता है, माया के अभानावरण से आत्मसूर्य के ढ़क जाने से उसकी छाया चिदाभास को कर्ता बनकर अनेक क्रियाओं से तादात्म्यता करते हुए देखा जाता है। सूर्य की छाया जो दर्पण में पड़ती है, वह असली सूर्य नहीं है, पर दिखता उसी के समान है। वह दर्पण के आवरण के कारण है। इसीप्रकार माया के आवरण के कारण उत्पन्न चिदाभास वास्तविक आत्मा से (छायास्वरूप होने से) भिन्न भी

है तथा अभिन्न भी है एवं भिन्नाभिन्न कुछ भी नहीं हैं, यानि वास्तविक है ही नहीं है। रस्सी पर दिखने वाला सर्प न भिन्न न अभिन्न है।

अतः पंचकोशों की विवेचना करके उन्हें अनात्म जानकर पृथक कर नजरअंदाज करो। एक अपरिवर्तनीय सत्य साक्षी जो परिवर्तनों को होते हुए एवं नकारते हुए सर्वदा निःशब्द रहता है, उसे पता लगाओ वही तुम्हारी आत्मा है।

शिष्य:- इन कोशों से भिन्न वह साक्षी आत्मा कहाँ पर है?

सद्गुरूः- प्रथमतः प्रारम्भ में दृष्टा-दृश्य-विवेक करो। त्रिपुटी में दृष्टा-दर्शन-दृश्य तीन होते है, उसमें देखने वाला दृष्टा कहलाता है। बुद्धि की प्रक्रिया से जाना जाता है तथा दृश्य तो पंचविषय है। यह त्रिपुटी जाग्रत व स्वप्न अवस्थाओं में उत्पन्न होकर नाचती रहती है तथा सुषुप्ति में लय हो जाती है। इन तीनों अवस्थाओं को उजागर करने वाला दृश्य जगत का मूल कारण माया की क्रियाशीलता को ताकत देने वाला अपरिवर्तनीय चैतन्य ही साक्षी आत्मा हैं। इसे पता लगाकर उसमें स्थित हो जाओ।

शिष्य:- गुरूदेव! जब मैं आपके निर्देशानुसार पंचकोशों को पहचानकर उन्हें नकारता हूँ, यह जानकर कि ये अनात्म ही है, तब मुझे कोई आत्मा का पता नहीं पड़ता है, सिर्फ एक शून्यता सी रहती है।

सद्गुरूः- यह कौन जान रहा है कि सिर्फ शून्यता है, कुछ नहीं आत्मा का पता लग रहा है, आदि ? यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि मेरी जीभ नहीं है, कैसे बोलूँ ? ऐसा बोलकर जो कहे उसे क्या समझें?

शिष्य:- पर कैसे?

सद्गुरूः- शून्यता को जानने वाले तुम तो हो, तुम्हारे बिना क्या शून्यता अपने आप रह सकती है, किसे दिखेगी ? यदि दृष्टा न हो तो, अतः भांप सकते हो कि तुम तो मौजूद हो ही।

शिष्य:- पर मुझे क्यों नही महसूस हो रहा है ? अपरिचित क्यों लगता है?

सद्गुरूः- इसलिए कि आत्मा विषय नहीं बन सकती है, सबको देखती है पर उसे देखा नहीं जा सकता है। स्वयंप्रकाश होने के नाते वह बिना किसी बाह्य सहायता के ही सब जानती है, पर आत्मा को बाह्य चीजें कोई जान नहीं सकती, आत्मा तो अन्तर्यामी है, वह तो हमेशा शुद्ध, निष्कल्मष, चिदाकाश है। जिसे कोई देख नहीं सकता है। वह अखण्ड़ित है, सर्वज्ञ है, यानि शुद्ध ज्ञान ही है।

शिष्य:- परन्तु आत्मा सबको जानती है, पर कैसे सबके लिए अपरिचित है?

सद्गुरूः- देखो पुत्र। ये पंचकोश अब तुम्हें लगता है कि मौजूद है। पर जब इन्हें नकार दिया जाता है कि "नेति-नेति" द्वारा कोश गल जाते है, आकाशवत् हो जाते है, तब एक शून्यता, निःशब्दता फैल जाती है तथा अनुभव होता है कि कुछ भी नहीं है तथा एक जड़ स्थिति है। ये तो सचमुच जड़ ही है, वे अपने आप से उभर नहीं सकते है। बिना दृष्टा के ये पंचकोश, शून्यता, जड़ स्थिति सभी दृश्य है, अनुभव करने वाला तो अछूता स्वतंत्र ही रहता है तथा उसके बिना कुछ नहीं अनुभव हो सकता है।

शिष्य:- पर वह कैसे?

सद्गुरूः- तुम घड़े आदि को देखते हो, अन्यथा यदि नहीं देखो तो वे है ही नहीं है। इसीप्रकार जो शून्यता पंचकोशों के अतीत दिखती है वह देखने वाले के कारण है। वे तो जड़ निर्जीव है, अपने आप व्यक्त नहीं हो सकते हैं। जब तक वहाँ पर एक दृष्टा मौजूद नहीं हो।

शिष्य:- वह कैसे?

सद्गुरूः- जैसे बादल आदि जो ऊपर है, घड़े आदि जो नीचे है, स्वयं प्रकाश न होने से सूर्य से ही प्रकाशित होते है। सूर्य करोड़ो मील दूरी पर स्थित है तथा स्वप्रकाशित है। इसीप्रकार बुद्धि से अतीत शून्यता या विभिन्न विषय भी जड़ पर-प्रकाशित होने से एक पारमार्थिक स्वयं प्रकाशपूर्ण चैतन्य की अपेक्षा रखते है, जिससे कि वे प्रकाशित हो सके। शून्यता से परे एवं उससे भिन्न एक साक्षी का अनुमान जरूर लगा सकते हो। वह आत्मा ही है, जिसे कोई जान नहीं सकता है कि “ये रही आत्मा” पर फिर भी वह सबको जानती है। बुद्धि को सूक्ष्म, कुशाग्र बनाकर, आत्मा का पता लगाकर उसमें स्थित हो जाओ। (इसके पश्चात् शिष्य ध्यान में अवस्थित हो जाता है। कुछ घण्टो में निर्विचार, सजग स्थिति में पहुँचकर सद्गुरू द्वारा आत्मस्वरूप के बारे में स्पष्ट किए गए निर्देशों द्वारा, वह अपने सत्स्वरूप में स्थित होता है। इसके बाद अत्यन्त हर्ष के साथ सद्गुरू चरणों को पकड़ अपनी ख़ुशी इसप्रकार व्यक्त करता है)

शिष्य:- ओह! सद्गुरू! मैंनें अपने को स्पष्ट रूप से अनुभव किया है। अब अपरोक्षरूप से मैंने अपने को जाना है?

सद्गुरू:- अच्छा! अपने को तुमने किसप्रकार से अनुभव किया है? बताओ।

शिष्य:- सभी पदार्थो, प्रपंच, शून्यता के साक्षी, ज्ञान का मूर्तिरूप, सबके प्रति सजग, वैभवपूर्ण (**MAJESTIC**) अवर्णनीय, अचिंतनीय, इंद्रियातीत, मन बुद्धि से अलिप्त, निष्कल्मष, निराकार, स्थूल, सूक्ष्म कारणातीत, न अणु, न महान्, न श्वेत, न काला या किसी वर्ण का ऐसा "मैं" हूँ। वहाँ कोई परिवर्तन, हलचल नहीं है। आकाश से सूक्ष्म, न अंधेरा, न उजाला, ऐसा "मैं" हूँ। "मैं" के प्रखर प्रकाश में सारी दुनिया, शून्यता आदि कहीं दूर, फीकी लग रही है। "मैं" अविभाजित हूँ, अखण्डित हूँ।

सद्गुरू:- अब बताओं कि "मैं मोटा, मैं पतला" आदि विचार "मैं" यानि आत्मप्रकाश में कैसे उठते हैं?

शिष्य:- अब सब स्पष्ट हो गया है। इस आवरण शक्ति ने मेरे असली स्वरूप को ढ़ककर पंचकोशों को मेरे सामने कर दिया था, पर सब अज्ञान के कारण ही था, दृष्टि बाहर थी। जैसे आकाश रंग रहित, शुद्ध होने पर भी नीला दिखता है। अतः अज्ञान के कारण आत्मा में ये सारे परिवर्तन नजर आ रहे थे, जब कि "मैं" अखण्ड़ित, शुद्ध हूँ।

अभी और यहीं, स्पष्टरूप से "मैं" मौजूद हूँ। मेरी सजगता कभी भी लुप्त नहीं हो सकती है। अहो! कितना आश्चर्य है कि इतना निकट,

वास्तविक यहीं उपस्थित होते हुए भी, इतना महान् भ्रम रहा कि “मैं अपने को पता नहीं लगा पा रहा हूँ।” यह तो ऐसा ही है। जैसे उल्लू पूर्ण प्रकाशयुक्त सूर्य की उपस्थिति में भी अपने चारों तरफ अंधेरा ही देखता है। फिर भी एक अंधेरे का भ्रम हमारे ऊपर मंडराता रहा कि मैं अपने को नहीं देख पा रहा हूँ। सही में, यह एक अतिविस्मयकारी बात है। क्या मध्याह्न में अंधेरा हो सकता है ? मैं इतना शाश्वतरूप से प्रकाशमान, परम अभिव्यक्तरूप (“मैं” के रूप में) चैतन्य हूँ कि कोई आवरण कैसे रह सकता है ? कहाँ से आवरण आ सकता है ? उसके बारे में सोच भी कैसे सकते हैं ? सचमुच यह आवरण मात्र भ्रम है। एक शब्द मात्र है। इसका अर्थ कुछ नहीं है। कोई सार नहीं है।

सद्गुरूः- अच्छा, यदि आवरण भ्रम है तो इतने समय तक उसमें आत्मा कैसे छिपी रही? बताओं।

शिष्य:- जी, हाँ! अविचार से, यद्यपि यह अज्ञान मिथ्या था, वह अविचार से पनप रहा था, जैसे अविचार से रस्सी का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है, उसे सर्प रूप से दिखाता है। उसी प्रकार आत्मविचार के अभाव में आवरण आत्मा को जानने से अवरोध उत्पन्न करती है। यह आवरण ही अनादि, अज्ञान है। जब आत्म साक्षात्कार हो गया, तब यह आवरण ढूंढे नहीं मिल रहा है। आहा! आश्चर्य है कि आत्मा अभी और यही है। स्वप्रकाशित साक्षी के रूप में यही मिल गई है। आहा! हा! आश्चर्यों के भी आश्चर्य । करतलआमलकवत् मैंने स्पष्ट रूप से अपने को जाना है।

प्रभो! मेरे तारणहार गुरूदेव! परम भाग्यशाली हूँ जो मैंनें आपके कृपा प्रसाद से धन्य, कृतकृत्य हो गया। मेरा काम पूरा हुआ। मैंनें करने

योग्य काम कर दिया, पाने योग्य पद पाया। (धन्य हुए शिष्य के आनन्दातिरेक, प्रसन्नतापूर्ण वक्तव्य सुनकर सद्गुरू अत्यन्त संतुष्ट तथा प्रसन्न हुए तथा उससे इसप्रकार कहा)

सद्गुरूः- धन्य हो, शाबाश मेरे प्रज्ञावान पुत्र, ईश्वर की कृपा से तुमने सचमुच अपने को पाया है। ईशकृपा (गुरू ही ईश्वर है) से तुम्हारे अज्ञान का अन्त हुआ है। जिस अज्ञान से अनेक विद्वान, शास्त्रज्ञ भी मोहित, भ्रमित रहकर अपने को नहीं जान पा रहे है, देखों उन विद्वानों के लिए जो अप्राप्य है, उसे तुमने सरलता से, ख़ुशी से पा लिया। तुम्हारे जितने पूर्व पुण्य-पुंज इकठ्ठे हो गये थें, सब मिलकर फलोत्पन्न किया है। आहा! धन्य है। तुम्हारा पूर्व जन्म कृतपुण्य। कितने सर्वश्रेष्ठ पुण्य तुमने किये होगें, जो इसप्रकार आत्मज्ञान में परिणित हुए है। सही में तुम धन्य, कृतकृत्य हो, अब तुम्हारा काम पूर्ण हुआ, अब तुम सिद्ध हो गये हो। कितना प्रसंशापूर्ण, स्तुत्य हो, जो सर्वोत्कृष्ट तत्व में स्थित हो गये। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए ही तो कितना यज्ञयागादि, व्रत, उपवास, तप, जप, पूजा, योगादि अतिकठिन परिश्रमयुक्त कार्य इस दुनिया में किया जाता है। केवल यह स्थिति पाने के लिए, कितनी चिन्ता, कष्ट, दुःख सहे जाते है परन्तु अब सब परिश्रम से बरी हो गये। तुम्हारे पूर्व जन्मों का सारा परिश्रम, सारी मेहनत फलीभूत हो गये। केवल इस परम तत्व के अज्ञान के कारण ही इस बिना थाह के भवसागर में आवागमन के चक्र में लोगबाग फँसे है, तुम किनारे लग गये हो। आत्मतत्व के अज्ञान से लोग इस शरीर, इन्द्रियाँ आदि को ही आत्मा समझ लेते है। तुमने अपने को पा लिया है। अतः तुम वास्तव में बुद्धिमान ज्ञानी हो, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अब तक तुमने आत्मविचार द्वारा “तत्वमसि” महावाक्य में जो “त्वं” पद है, उसकों साररूप से जाना है। इसीप्रकार से आत्मविचार करके “तत्” का भी शोधन करो।

शिष्य:- पूज्य गुरूदेव! कृपया बताएं कि “तत्” का सारअर्थ जो वाच्य व लक्ष्य अर्थ है, वह क्या है ? जैसे “त्वं” के लिए पंचकोश है, जिनके अतीत साक्षी आत्मा है, वैसा “तत्” के लिए क्या है?

सद्गुरू:- ये पूरा विश्व पाँच कारको से बना है, यथा अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप (जैसे पंचकोश, बाह्य पदार्थ आदि)।

शिष्य:- कृपया इन पाँचों के बारे में तथा बाह्य पदार्थो के बारे में बताएँ?

सद्गुरू:- जैसा घड़ा है, यह “अस्ति” अंश है, दिख रहा है यह “भाति” अंश है। घड़ा प्रिय है, यह “प्रियता” का अंश है। घड़ा “नाम” है, गोलाकार उसका “रूप” है। उसी प्रकार सभी पदार्थो के साथ समझो। इन पाँचों में प्रथम तीन तो ब्रह्म की विशेषताएँ है तथा बाकी दो विश्व की यानि माया की अंश है।

“तत्वमसि” महावाक्य में “तत्” का वाच्यांश नामरूपात्मक जगत् तथा ईश्वर। उसका लक्ष्यार्थ है ब्रह्म। अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, अंश को जैसे अनादि अज्ञान अपने आवरण से ढ़कने से पंचकोश व साक्षी के बीच फर्क नहीं करने देता है। इसीप्रकार माया का आवरण अस्ति, भाति, प्रियत्व अंशों में तथा नाम रूपों में कोई अन्तर नहीं करने देता है। जब आत्मविचार से आवरण

हटता है, तब नामरूप से अतीत ब्रह्म की विशेषताएँ (अस्ति, भाति, प्रिय) महसूस होने लगता है।

शिष्य:- "तत्वमसि" महावाक्य के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ ज्ञान "तत् व "त्वं" के बारे में जानने का फल क्या है?

सद्गुरू:- महावाक्य का उद्देश्य है, पंचकोशातीत साक्षी आत्मा "त्वं" तथा नामरूपातीत, सच्चिदानन्द (अस्तित्=सत् भातित्=चित् प्रियत्=आनन्द) "तत्" दोनों एक ही है, समान ही है, ऐसा प्रतिपादन करना, यही लक्ष्यार्थ कहलाता है। यदि कोई पंचकोशयुक्त व्यक्ति का नामरूपयुक्त विश्व रूपी ईश्वर से समानता करने का प्रयत्न करता है, तो वह वाच्यार्थ की एकता की कोशिश में है, जो कि संभव नहीं है। उपाधि के साथ एकता नहीं बनती है। उपाधि भ्रमपूर्ण मायाकृत है। अतः महावाक्य ज्ञान (लक्ष्यार्थ) से साक्षी एवं ब्रह्म एक है, यह ज्ञान होता है। यही इसका फल भी है।

शिष्य:- कैसे साक्षी व ब्रह्म एक ही है?

सद्गुरू:- दोनों सत् चित् आनन्द स्वरूप होने से समान है। जैसे घड़े में जो आकाश (**SPACE**) है तथा महाकाश है, उनकी विशेषताएँ एक है, वे समान है, चाहे घड़े में हो या सर्वत्र हो, आकाश अखण्डित एक ही है। इसीप्रकार साक्षी व ब्रह्म की विशेषताएँ सच्चिदानन्द एक ही है व समान है। अतः घटाकाश तो महाकाश ही है। साक्षी तो ब्रह्म ही है। इसमें संशय नहीं है।

शिष्य:- इस ज्ञान का क्या फल है?

सद्गुरूः- ब्रह्म जैसे पूर्ण, शुद्ध, अखण्डित है, वैसे ही साक्षी भी शुद्ध व चैतन्य ही है। अतः चैतन्य आत्मा एक है, अखण्डित आनन्दस्वरूप है। इस ज्ञान का फल यह है कि पंचकोश व नामरूपों को यह जानकर कि एक अकथनीय शक्ति द्वारा सत्य पर भ्रमावरण ड़ाला गया है, दूर करना तथा अधिष्ठान ब्रह्म जो कि सच्चिदानन्द ही है तथा आत्मा ही है, ऐसा जानकर "अहंब्रह्मास्मि" का अभ्यास करना ही इस ज्ञान का फल है। इससे उत्पन्न निरतिशय आनन्द कि वह "ब्रह्म मैं ही हूँ" की अपरोक्ष अनुभति ही इसका फल है।

इसप्रकार मनन सम्बन्धी अध्याय समाप्त होता है। जो विवेकवान साधक इस अध्याय को सावधानीपूर्वक पढ़ता व उसे अभ्यास करता है, वह सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप में अपने साक्षी आत्मा को पहचान लेता है तथा स्वरूप में स्थित हो सकता है। यही इस अध्याय की महिमा है।

.

-:अध्याय छह - वासना क्षय:-

जब शिष्य अपनी लगन से व गुरूकृपा से मनन द्वारा अपरोक्ष अनुभूति पाकर प्रसन्नतापूर्वक धन्यता मेहसूस कर रहा था, तब सद्गुरू ने उससे आगे बांतें कही :-

सद्गुरू:- मेरे बुद्धिमान शिष्य व ज्ञानावस्थित प्रिय वत्स! अब तुम्हें शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं है, वे तुम्हारे लिए कुछ भी नया नहीं सिखा सकते है। तुम्हारा काम उनकी तरफ से पूरा हो गया। अब शास्त्र पठन-पाठन, यत्र-तत्र, पुस्तकीय ज्ञान वास्ते भटकना, शास्त्र वाक्यों को याद करना आदि से बरी हो गए हो। अब केवल तुम्हें ध्यान ही करना है। श्रुति कहती है कि "आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान) करना उचित है।" सो तुम मनन कर चुके हो, अब केवल ध्यान ही करना है। अतः शास्त्रों की ओर से मुँह फेर लो।

शिष्य:- पर गुरूदेव!यह उचित है क्या कि शास्त्रों को पूर्णतः त्याग देना?

सद्गुरू:- हाँ। यह उचित है। तुम ने विचार द्वारा यह जो जानने योग्य वस्तु है या तत्व है, उसे जान लिया है, तो अब बिना हिचक के शास्त्रों को त्याग दो, डरो मत।

शिष्य:- पर शास्त्रों में कथन है कि आखिरी श्वास तक स्वाध्याय व शास्त्र पठन नहीं छोड़ना चाहिए?

सद्गुरू:- देखो बेटा। शास्त्रों का क्या उद्देश्य है यह जान लो कि वे तुम्हें सत्य के बारे में शिक्षा देता है। जब तुमने सीख लिया है, तब उनका क्या

प्रयोजन है। पुनः पुनः उन्हें देखना तो समय व शक्ति, मेहनत की बर्बादी है, (**WASTE OF TIME & LABOUR**) अतः उन्हें गट्ठर बांध कर एक तरफ रख दो। अब अखण्ड ध्यान में लग जाओ। शास्त्र तुम्हारे अवधान को यत्र-तत्र भटकाते हैं। (**DISTRACT YOUR ATTENTION**).

शिष्यः- क्या इसप्रकार के वक्तव्य का सहारा (**SUPPORT**) किन्हीं शास्त्रों से मिलता है ?

सद्गुरूः- हाँ। अवश्य।

शिष्यः- कैसे?

सद्गुरूः- वे कहते है कि "जब शिष्य सद्गुरू समक्ष रहकर श्रवण करता है, एकान्त में मनन कर अपरोक्ष अनुभूति पाता है, उसके बाद वह सब शास्त्रों को वैसे ही छोड़ दे जैसे चिता की अग्नि को हिलाने के लिए प्रयोग में लाने वाले बाँस को शवदाह पश्चात् उसी चिता में डाल देते है। इसीप्रकार शास्त्र पठन, श्रवण के बाद मुमुक्षु परोक्ष ज्ञान इकट्ठा करके उसे मनन द्वारा प्रयोग में कार्यान्वित करता है तथा तब तक मनन में लगा रहता है, जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो जाता है। उसके पश्चात् जैसे धान इकट्ठे करने वाले भूसे को अलग करके फेंक देता है, धान घर ले जाता है। इसीप्रकार वह भी सार वस्तु को ग्रहण के बाद शास्त्रों को त्याग दें। मुमुक्षु के लिए उचित है कि वह शास्त्रों का उपयोग केवल परोक्ष ज्ञान पाने के लिए ही करें तथा उसके बाद मनन में जुट जाएँ। वह अनावश्यक वेदान्त के बारे में बातें करके समय न बिताएँ, नहीं उसके बारे में चिन्तन ही करें कि अमुक शास्त्र में ऐसा है, दूसरे में भिन्न है, कौन

सा अच्छा है, कौनसा बुरा है, या न उन लेखकों के बारे में सोच-विचार ही करें। वेदान्त चर्चा व शास्त्रार्थ करने से वाणी पर जोर पड़ता है, शक्ति का अपव्यय होता है। न ही उसके बारे में सोचने, याद करने, मन में श्लोकादि के उद्धरण से कोई उद्देश्य की पूर्ति होती हो। अतः जितना उचित, वांछनीय व आवश्यक है, उतना ही पढ़ो व जानो, उसके पश्चात् थका देने वाले अध्ययन पठन को त्याग दो। एक बुद्धिमान, विवेकी साधक को चाहिए कि वह अपनी वाणी पर नियंत्रण रखें तथा मन पर भी काबू रखे तथा हमेशा ध्यान में मग्न रहे। चलते, फिरते, उठते, बैठते शास्त्र के सारभूत अंश को ही ध्यान में रखे कि स्वयं के अतिरिक्त सब मिथ्या है, स्वयं ही सत्य है। सभी शास्त्रों की यही तो शिक्षा है।

मेरे बुद्धिमान विवेकी पुत्र! जब तुमने जानने योग्य पद को (जो शास्त्रों में उल्लेखित है) जान लिया है तो अब उन अध्ययनों से उत्पन्न संस्कारों को भी पोंछ देने को तैयार हो जाओ।

शिष्य:- ये किस प्रकार के संस्कार है?

सद्गुरू:- ये संस्कार इसप्रकार के है कि (1) हमेशा वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ते, देखते रहने का मन का झुकाव (**INLINATION**). (2) उन महावाक्यों सम्बन्धी नए अर्थो को समझने का प्रयत्न करना, नई पुस्तकों की खोज करना। (3) वेदान्त वाक्य व श्लोकों को स्मृति में उतारने, रटने, प्रतिपादन पठन करने की कोशिश करना। (4) अनवरत् उन शब्दों को मन में दोहराते रहना, सोचते रहना, मन को त्रास देना शुष्क शब्दों के जाल में फंस कर अपने को धन्य

समझना आदि उपर्युक्त सभी बातें ध्यान के लिए बाधक है। अतः विवेकी को चाहिए कि वह सब प्रकार के प्रयत्न से इन अवरोधों को हटाने की कोशिश करें। इसके पश्चात् "लोक वासना" को भी दूर करना चाहिए।

शिष्य:- ये कैसे संस्कार है?

सद्गुरूः- बचपन से कूट-कूट कर ये संस्कार समाज, माता-पिता द्वारा रग-रग में थोपा जाता है कि यह मेरा परिवार है, मेरा देश है, कुल, वंश व खानदान है। यह हमारी संस्कृति, परम्परा है आदि। यदि कोई उनकी स्तुति या निन्दा करें तो मन विक्षुब्ध होकर प्रतिक्रिया करता है। इन्हें त्याग दो। ये केवल समाज में अभिनय हेतु दिए गए थें, ये काम के नहीं है। इसके पश्चात् "देहवासना" भी त्याग दो।

शिष्य:- ये कैसी वासना है, कृपया खुलासा करें?

सद्गुरूः- अपने को उम्र के हिसाब से सोचना कि इतनी उम्र का हूँ, युवा हूँ, या बूढ़ा हूँ। लम्बी आयु की कामना करना, अच्छे स्वास्थ्य, बलशाली, सुन्दर व स्वस्थ रहने की कामना, (शरीर विषयक विचार ही इन संस्कारों का द्योतक या इशारे है) लोक सम्बन्धी महत्वाकांक्षा यश की कामना कि लोक में प्रसिद्ध हो जाऊँ, सिद्धियों का प्रदर्शन कर सकूं लोगो को वश में कर सकूं आदि विचार निश्चित ही ध्यान में बाधा डालते हैं। चूंकि सभी विषय नाशवान, क्षणिक, अशाश्वत है। अतः इन्हें बेरहमी से फूंक देना चाहिए क्योंकि सब बेकार है, स्वप्न की चीजें है, समय शक्ति बर्बाद करने वाले है। अन्त में कुछ हासिल भी नहीं होता है। इसके बाद "भोगवासना" भी त्याग करना चाहिए।

शिष्य:- ये वासना कैसी है?

सद्गुरूः- ये इन विचारों द्वारा उजागर होती है कि (1) ये विषय अच्छे है, मुझे मिलने चाहिए। (2) ये अच्छे नहीं है, अतः ये हट जाएँ। (3) अब मैंनें इतना पा लिया है तो और ज्यादा पा लूं आदि। ये सब कुछ पंचविषयों के भोग से सम्बन्धित हैं। इन्हें छोड़ना चाहिए।

शिष्य:- इन्हें किस प्रकार त्याग सकते हैं?

सद्गुरूः- वैराग्य व विरक्ति से, सभी भोगों को घृणा की दृष्टि से देखों, जैसे वांत (उल्टी) या मल हो। उनके प्रति दोषदृष्टि के बिना उन्हें आप दूर नहीं कर सकते हो। इस पागलपन या नशा का एकमात्र इलाज उनके प्रति विरक्ति ही है। इसके पश्चात् मन में उठने वाले निम्न वेगों को पहिचान कर, सतर्क रहकर, तादात्म्यता न करने की कोशिश करें यथा काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर या ईर्षा।

शिष्य:- यह कैसे किया जाता है?

सद्गुरूः- सत्संग से एवं सद्गुणों को अपनाने से, जैसे मैत्री (संतो से प्रेम, पवित्र वातावरण की इच्छा, सज्जनों से स्नेह) करूणा (दुःखी के प्रति दया) मुदिता (सज्जनों की ख़ुशी में खुद भी प्रसन्न हो जाना, हमेशा प्रसन्न रहना) उपेक्षा (पापी या दुष्टजनों के प्रति उदासीन भाव) इन सद्भावो के विकास से अवगुणों को दूर कर सकते हैं। इसके पश्चात् “विषयवासना” भी दूर करें (शब्दादि वासनाएँ)।

शिष्य:- इन संस्कारों को कैसे दूर करेंगे?

सद्गुरूः- छः नियमों के अभ्यास से यथा शम (मन को अंतर्मुखी करना) दम (इन्द्रियों का नियंत्रण) उपरति (विषयों से उपरामता) तितिक्षा (सहन शक्ति) समाधान ("मैं" पर मन को टिकाना) तथा श्रद्धा (गुरू व ग्रंथ के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास)। अब "पारस्परिक आसक्ति" रूपी (**MUTUAL ATTACHMENTS**) संस्कारों से भी दूर हो जाएँ।

शिष्य:- ये क्या है ? पहले मैंनें इनके बारे में नहीं सुना था।

सद्गुरूः- यद्यपि इन्द्रियों को नियंत्रित, संयमित किया जाता है तथापि मन बार-बार यही सोचता है कि "वह वहाँ पर है, ये यहाँ पर है। यह ऐसा-वैसा है, वह ऐसा-वैसा है आदि।" जितना मन इन विषयों के बारे में चिन्तन करता है, उतना ही उनसे आसक्त हो जाता है। हमेशा कुछ योजना बनाते रहना, चीजों को व्यवस्थित रखने, कुछ बनाने, (**CONSTRUCT**), बिगाड़ने, समेटने, घरेलू कार्यो के बारे में निरन्तर उधेड़बुन करते रहना, मन का विषयों के प्रति व्यवहारिक आसक्ति वाला संस्कार कहलाता है।

शिष्य:- इस को कैसे रोकें? दूर करें?

सद्गुरूः- केवल "उपरति" के द्वारा। युक्ति द्वारा यह निर्णय लें कि ये सारे निष्फल दिवास्वप्न ही है। जितने लौकिक, व्यावहारिक सम्बन्धी विचार, योजनाएँ है, वे अंतहीन स्वप्न क्रियाएँ है। मन को समझाकर इनसे दूर रखें।

जब उपर्युक्त सभी वासनाएँ व संस्कार से छूटते है, तब एक महत्वपूर्ण अंतिम बुराई की जड़ अत्यंत प्रयत्न पूर्वक दूर करे वह है अपने प्रति गलत परिचय से उत्पन्न “विपरीतवासना”।

शिष्य:- यह विपरीत भावना क्या है?

सद्गुरू:- अनादि काल से अनादि अज्ञान के कारण अनात्म को आत्मा समझा जा रहा है कि मैं शरीरादि हूँ। यह फोड़ने वास्ते अत्यंत कठोर बीज है (**TOUGH NUT TO CRACK**) केवल ब्रह्माभ्यास से ही सम्भव है।

शिष्य:- यह अभ्यास क्या है व कैसे किया जाता है?

सद्गुरू:- इसे ऐसा किया जाता है कि शरीर, मन आदि को अनात्म जानकर इन्हें उपेक्षित करके “मैं ब्रह्म ही हूँ” के चिन्तन से तथा इन जड़कोशों का साक्षी आत्मा हूँ ऐसा निरन्तर अभ्यास करने से दूर हो सकता है।

एकान्त में ब्रह्मध्यान, ब्रह्मसम्बन्धी ही बोलना, सिखाना, दूसरों को उसी के बारे में वर्णन करना। अन्य लौकिक बातों से परहेज करना, ब्रह्मातिरिक्त किसी चीज में रूचि नहीं लेना, निरन्तर ब्रह्मचिन्तन को ही ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

तच्चिंतनं तत्कथनं अन्योन्यं तत् प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाई।।
(योगवाशिष्ठ-उत्पत्ति प्रकरण-लीलोपाख्यान)

इसप्रकार ज्ञानी का कथन है। इसप्रकार “मैं” के गलत परिचय को दूर करो तथा तादात्म्यता से ऊपर उठो। अब प्रयत्नपूर्वक “मेरापन” को भी दूर करो।

शिष्य:- “मेरापन” विचार का स्वरूप क्या है?

सद्गुरू:- शरीर, शरीर से सम्बन्धित जो भी हो जैसे नाम, रूप, पोशाक, जाति, चरित्र, काम, धंधा, पारस्परिक सम्बन्ध, चाहे व्यक्ति हो या वस्तु, परिस्थिति, देशकाल हो, उन सबमें एक ही “मेरापन” का विचार अनुस्यूत है।

शिष्य:- यह, कैसे दूर हो सकता है ? गुरूदेव यह तो भारी बाधक लग रहा है?

सद्गुरू:- निरन्तर दीर्घसमय तक आत्मध्यान से ही सम्भव है।

शिष्य:- परन्तु कैसे?

सद्गुरू:- बेटा! जितने भी विचार शरीर, उसके अन्य से सम्बन्ध, रूचि, प्रभाव, भोग, क्रियाएँ आदि है, वो अज्ञान, भ्रम के परिणाम है, जो शुद्ध अहं पर ढ़क्कन बने हैं जैसे सीपी पर रूपा, मरीचिका में जल, आकाश में नीलापन, समुद्र पर लहरें, स्वर्ण में आभूषण, रस्सी पर साँप आदि सब भ्रमात्मक मिथ्या अभिव्यक्ति हैं, सत्य पर इसीप्रकार शुद्ध अहं पर मिथ्या ही ये भ्रमात्मक विचार “मेरापन” थोपा गया है। वास्तव में आत्मा या “मैं” के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा विचार कर सजगता से पूर्ण रहने से इस संस्कार से छूटा जा सकता है। इसके पश्चात् “भेदवासना” का भी त्याग करो।

शिष्य:- यह कैसी वासना है?

सद्गुरू:- “भेदवासना” वह है जिसमें यह विचार उठता है कि “मैं इन दृश्यों का साक्षी हूँ-जो देखा जा रहा है, वह सब जड़ तथा भ्रमात्मक जादूसरीखे है। ये रही दुनिया, ये रहे लोगजन, ये मेरा शिष्य है, पति-पत्नी,

पुत्र-पुत्री है, परिवार है, ये मेरे गुरू है। ये तो शिव ईश्वर है आदि।” अद्वैत के अभ्यास से ये विचार भी चले जाएँगें। अभ्यास ऐसा है कि हमेशा ठोस सच्चिदानन्द, अद्वैत, शुद्ध, सत्य-असत्य विचारों से मुक्त, उनके भ्रमात्मक प्रभावों के सोच-विचार से स्वतंत्र, अंतर, बाह्य भेदों से रहित, स्थिर रहना, यही अभ्यास है। निरन्तर निर्विकल्प समाधि (निर्विचार सजगता की स्थिति) में रहकर अपने “मैं” जो शुद्ध है उसी में डूबे रहने से सिद्ध हो जाता है। इस भेदवासना को बहुत दूर छोड़कर अब अद्वैत सिद्धान्त के प्रति आसक्ति से भी उबरना होगा।

शिष्य:- यह कैसे किया जाता है, कृपया स्पष्ट करें?

सद्गुरू:- सत्य या ब्रह्म अवर्णनीय, अचिन्तनीय होने से पूर्णतः वृत्तिहीन (विचार या संस्कार शून्य) स्थिति है। जब तक तुम निःशब्दता-निःस्तब्धता की स्थिति में नहीं पहुँचते हो, तब तक ब्रह्मानन्द की अनुभूति नहीं होती है। मुक्ति का आनन्द तो मात्र ब्रह्मानन्द ही है, अन्य कुछ नहीं। जब मन प्रच्छन्न, छिपे हुए सारे संस्कारों से रिक्त हो जाता है तब स्फटिक जैसे स्वच्छ, शुद्ध हो जाता है। तब उसकी उपस्थिति है या नहीं है, आदि भी कहा नहीं जा सकता है। उस वृत्तिहीन स्थिति में केवल चिदाभास से प्रकाशमान रहता है, चैतन्य से एक हो जाता है। यह स्थिति मन एवं वाणी से परे है। इस वृत्तिहीन स्थिति में अद्वैत विचार भी तो वृत्ति होने की वजह से बाधा ही है। अद्वैत विचार के प्रति आसक्ति भी जब तक निःशब्दता में नहीं परिणत होती है, तब तक मन

वृत्तिहीन नहीं बन पाता है। यह जो शुद्ध वृत्तिहीन मन की “मैं” में दृढ़ता को ही आत्म-साक्षात्कार या मुक्ति कहते है। यही जीवनमुक्ति है।

यद्यपि मनन द्वारा अपरोक्ष अनुभूति संभव है, तथापि जब तक इस वासनाहीन, वृत्तिहीन स्थिति नहीं बनती है, तब तक ब्रह्म का ध्यान, मन एवं शरीर नियंत्रण करना आवश्यक है तभी जीवनमुक्ति का सुखास्वादन कर सकता है।

इसप्रकार इस अध्याय की समाप्ति हुई।

.

-:अध्याय सात - आत्म साक्षात्कार;-

पिछले अध्यायों में यह वर्णन किया गया कि पहले अपरोक्ष अनुभूति प्राप्त करें तथा उसके बाद वासना क्षय करें, जिससे स्पष्ट रूप से ब्रह्मानुभूति कर दृढ़ता की ओर बढ़े।

सद्गुरूः- मेरे ज्ञानी बेटे! अब जब तुमने अपरोक्ष अनुभूति पा ली है, आत्मविचार के द्वारा तब निरन्तर ध्यान करने में लग जाओं।

शिष्यः- परन्तु सद्गुरूदेव! चूंकि अब मुझे कोई संशय नहीं रहा तथा मैंनें अपरोक्ष रूप से अपने को पा लिया है, तब मैं किसलिए ध्यान करूँ तथा उससे क्या फल है ? मेरा काम पूर्ण हो गया है।

सद्गुरूः- बेटा! यद्यपि तुमने मनन द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त की है, तथापि बिना ध्यान के आत्म साक्षात्कार (ब्रह्मानुभूति की दृढ़ता) नहीं मिल सकता है। "अहंब्रह्मास्मि" अनुभव के लिए तुम्हें ध्यानाभ्यास करना ही पड़ेगा।

शिष्यः- गुरूदेव! आप कह रहे है कि ब्रह्म साक्षात्कार वास्ते मुझे पुनः ध्यान करने को तत्पर होना है। पर मैं तो महावाक्यजन्य आत्मविचार से आत्मानुभूति पा चुका हूँ। फिर अब मुझे इस अभ्यास की जरूरत क्या है?

सद्गुरूः- यदि तुम ऐसा कह रहे हो कि महावाक्यजन्य आत्मविचार से अपरोक्षानुभूति हुई है तो उसे कौन मना कर सकता है ? कोई भी नहीं कर सकता। यह सर्वविदित है कि आत्मविचार से अपरोक्ष आत्म साक्षात्कार होगा ही।

अब हम इस महावाक्य के लक्ष्यार्थ की चर्चा करें। “तत् त्वं असि” “तुम वही हो” में किसका परिचय, किसके समान या मिलाया जा रहा है ? वह तो पंचकोशों का साक्षी चैतन्य “त्वं” को ब्रह्म चैतन्य “तत्” के साथ मेल किया जा रहा है। न कि जीव यानि चिदाभास को ब्रह्म के साथ एक किया जा रहा है। यह सत्य है कि आत्मविचार द्वारा साक्षी चैतन्य की समानता ब्रह्म चैतन्य के साथ एक होने का ज्ञान मिलता है। परन्तु इसप्रकार साक्षी चैतन्य को ब्रह्म के साथ समान भाव से जानने से तुम्हें क्या उपयोग या लाभ हुआ?

शिष्य:- आश्चर्य है! माफ करना! आप ऐसे प्रश्न कैसे उठा रहे है कि “आत्मा-ब्रह्म की एकता ज्ञान से व्यक्ति को क्या लाभ या फायदा हो सकता है?” यह तो स्वतः सिद्ध है। आत्मविचार से महावाक्यजन्य ज्ञान से यह अनुभूति होती है कि आत्म चैतन्य साक्षी ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही आत्मा है। पहले साधक को इस समानता के बारे में अज्ञान था तथा अब आत्मविचार से वह होश में आया है।

सद्गुरूः- हाँ! यह सत्य है कि तुमने आत्मविचार से यह जान लिया है कि साक्षी ही ब्रह्म है तथा अखण्डित, पूर्ण ब्रह्म ही साक्षी है। पर यह ज्ञान ही अन्तिम नहीं है तथा तुम्हारे उद्देश्य की पूर्ति इस ज्ञान से नहीं हो पाएगी। मान लो एक गरीब भिखारी यह तथ्य नहीं जानता है कि उस राज्य के राजा ही जो एक राजमहल में छोटे से राज्य में रहता है, वही पूरे विश्व का चक्रवर्ती भी है तथा बाद में इसके बारे में यह जान लेता है, तो बताओं इस ज्ञान से यानि इस नई खबर की प्राप्ति से क्या उसकी स्थिति सुधर जाएगी? उसके लिए इस खबर का उपयोग क्या है व किस उद्देश्य की पूर्ति होगी?

शिष्यः- आत्मविचार के पूर्व अज्ञान रहता है। उसके बाद यह ज्ञान होता है कि साक्षी ही ब्रह्म है। अब अज्ञान की जगह ज्ञान है। यही इसका उपयोग व लाभ है।

सद्गुरूः- यह तथ्यों को कैसे प्रभावित करेगा ? तुमने यह जाना है या नहीं जाना है, इससे इस तथ्य में कोई अन्तर नहीं आता है कि साक्षी तो हमेशा ब्रह्म ही है, यह तो आध्यात्मिक सत्य है। तुम्हारे यह जानने से यह स्थिति बदल नहीं जाती या जानने से स्थिति कोई निर्मित नहीं हो जाती है। वह हमेशा बरकरार है कि आत्मा ब्रह्म ही है। वह गरीब भिखारी इस खबर को पाएँ या न पाएँ, वह इस जानकारी को पाएँ या न पाएँ, राज्य में स्थित राजा तो विश्व का चक्रवर्ती है ही। भिखारी के जान लेने के बाद चक्रवर्ती नहीं बन गया। ऐसे ही तुम्हारे यह जानने से कि साक्षी ही ब्रह्म है, तो तुम्हारे अन्दर क्या बदलाव आया ? यह मुझे बताओ। तुममें कोई परिवर्तन नहीं आया होगा। स्पष्ट रूप से बताओं।

शिष्यः- क्यों नहीं? निश्चित ही अन्तर पड़ा है। महावाक्य बताता है कि "तुम वही हो।" उसके अर्थ का विचार करने से मुझे पता चला है कि पंचकोशों का जो अन्तर्यामी साक्षी है, वह ब्रह्म ही है। इसप्रकार मुझे पता चला है कि "मैं ब्रह्म ही हूँ" जो कि दूसरा महावाक्य है-यथा "अहंब्रह्मास्मि"। पहले मैं इस बात को नहीं जानता था कि साक्षी ही ब्रह्म है पर अब चूंकि आपकी कृपा से मैं जान गया हूँ तो मैंने उसके फलस्वरूप ब्रह्म साक्षात्कार किया है।

सद्गुरूः- यह तुम कैसे घोषणा कर सकते हो कि तुमने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है ? यदि महावाक्य द्वारा तुम्हें समझ में आया कि तुम ब्रह्म ही हो,

तो यह "मैं" कौन है? क्या यह "जीव" है? चिदाभास (**EGO**) है ? जीव या चिदाभास कैसे ब्रह्म होगा ? जैसे गरीब भिखारी यह जानलें कि राजा ही चक्रवर्ती है, तो वह इस जानकारी से स्वयं राजा या चक्रवर्ती नहीं बन सकता है, इसीप्रकार परिवर्तनशील, तात्कालिक चिदाभास (**EGO**) कभी भी अपरिवर्तनीय ब्रह्म के साथ समान नहीं हो सकता है, क्योंकि मिथ्या व सत्य का मेल नहीं हो सकता। स्वप्न स्त्री से जाग्रत पुरुष का विवाह कैसे होगा ?

शिष्य:- बिल्कुल सही है। जब "मैं कौन हूँ" का विचार किया जाता है, तब वह अपरिवर्तनीय साक्षी को पता लगता है कि अविचार से मैंनें परिवर्तनीय चिदाभास से तादात्म्यता कर ली थी। अब जब वह यह जान लेता है कि मैं चिदाभास नहीं पर साक्षी चैतन्य ही हूँ तो उसका यह कहना कि "मैं ब्रह्म ही हूँ" में क्या गलत या बेसुरा या बेमतलब है ? यह तो सही ही है कि साक्षी ऐसा कहे।

सद्गुरूः- यदि तुम यह कहते हो कि साक्षी द्वारा "अहंब्रह्मास्मि" कहा जा रहा है, तो तुम बिल्कुल गलत कहते हो। यह कैसे साबित करते हो कि यह साक्षी द्वारा कहा गया है ? यह परिवर्तनशील चिदाभास द्वारा या अपरिवर्तनीय साक्षी द्वारा कहा गया है, यह बताओं। साक्षी तो हमेशा एकरस रहता है, "मिथ्या अहं" का भी साक्षी है, वह कपटी (क=छिपना, पट=आवरण) नहीं है अन्यथा वह भी बदलता रहता पर उसमें निरन्तर न बदलने वाले साक्षी का ही स्वरूपभूत गुण है। अपरिवर्तनीय साक्षी होने के नाते उसमें लेशमात्र भी "मैं" भाव, "ब्रह्म" भाव या अन्य विचार नहीं रह सकते है, उसमें संदेह ही नहीं है। अतः यदि कहो कि साक्षी "अहंब्रह्मास्मि" घोषित कर रहा है,

तो तुम गलत हो। इस कथन व वक्तव्य के लिए कोई आधार, प्रमाण, सबूत नहीं है।

शिष्य:- (सकपकाकर) फिर गुरूदेव! यह “अहंब्रह्मास्मि” कौन जानता है?

सद्गुरू:- जैसे पहले से हम कहते आ रहे है, उससे यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि जीव या चिदाभास या मिथ्या अहं ही इसप्रकार जानता है।

शिष्य:- यह पूर्व कथन से कैसे निष्कर्ष उभरता है?

सद्गुरू:- देखों वत्स! आवागमन चक्र से मुक्त होने वास्ते अज्ञानी ही इसप्रकार अभ्यास करता है कि “मैं ब्रह्म हूँ” । कूटस्थ साक्षी आत्मा के लिए कोई अज्ञान नहीं है। जब अज्ञान नहीं है, तो ज्ञान का भी प्रश्न नहीं है। केवल अज्ञानी ज्ञान की तलाश में है। इसप्रकार अज्ञानी जीव या मिथ्या अहं ही तो अज्ञानी है, ज्ञान के इच्छुक है। यह स्पष्ट है कि साक्षी चैतन्य ही अधिष्ठान है, जिस पर ज्ञान तथा अज्ञान दिखाई देते है। अतः आधार तो अध्यस्त से मुक्त ही होना चाहिये अर्थात् ज्ञान-अज्ञान से अधिष्ठान स्वतंत्र ही है। दूसरी तरफ चिदाभास ही ज्ञानी या अज्ञानी होता है। यदि तुम किसी से पूछो कि “तुम्हें पता है, उस साक्षी का जो तुम्हें भी जान रहा है ?” तो वह कहेगा “कौन है वह साक्षी ? मैं तो नहीं जानता हूँ।” इसतरह मिथ्या अहं का अज्ञान उजागर होता हैं।

जब वह श्रवण करता है कि एक अन्तर्यामी साक्षी मौजूद है, जो उसे भी निहार रहा है, तब वह वेदान्तवाक्यानुसार परोक्ष रूप से जानता है कि आत्मा ही वह साक्षी है। तब आत्मविचार करने लगता है, जिससे

अभानावरण (कि मुझे आत्मा का पता नहीं पड़ रहा है वाला भाव) भंग हो जाता है तथा अपरोक्ष रूप से अपने को साक्षी स्वरूप जान लेता है। इसप्रकार "मिथ्या अहं" को ही यह ज्ञान होता है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

इसप्रकार "जीव, चिदाभास या मिथ्या अहं" को ही ज्ञान-अज्ञान अनुभव होता है, न कि साक्षी आत्मा को। अब तुम्हें स्वीकारना पड़ेगा कि "जीव" को ही "अहंब्रह्मास्मि" का ज्ञान होता है। अब चूंकि परिवर्तनशील, तात्कालिक (**TEMPORARY**) जीव में यह सजगता या होश उत्पन्न होता है कि साक्षी चैतन्य जो अपरिवर्तनीय है तथा वही आधार या अधिष्ठान है, स्वयं के लिए भी परन्तु वह साक्षी समान तो नहीं हो गया है। केवल राजा को निहारने मात्र से गरीब भिखारी राजा नहीं हो जाता है। इसीप्रकार बदलने वाला अहं, न बदलने वाले साक्षी के रूप में जानकारी के आधार पर नहीं हो जाता है, जब तक वह स्वयं साक्षी में एकरूप नहीं हो जाता है, तब तक वह ब्रह्म नहीं हो सकता है। अतः "मैं ब्रह्म ही हूँ" का अनुभव असंभव है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! आप यह कैसे कहते है कि साक्षी को देख लेने या जान लेने से मैं भी साक्षी नहीं हो जाता हूँ ? जीव अपने असली वास्तविक स्वरूप कि वह अधिष्ठान है, साक्षी चैतन्य है, को न जानने के कारण मिथ्या अहं बनकर भटकता रहता है परन्तु अपने स्वभाव के सूक्ष्म, सावधानीपूर्ण विचार से अपने साक्षी स्वरूप को जानकर उसके साथ तादात्म्य करने लगता है। वह जानता है कि साक्षी ही अखण्डित पूर्ण ब्रह्म ही है। अतः यह अनुभव कि "मैं ब्रह्म हूँ" सही है।

सद्गुरूः- तुम जो कह रहे हो, वह सब सत्य है, जब जीव अपने को साक्षी के साथ पूर्ण तादात्म्य कर लेता है। साक्षी तो ब्रह्म है ही, इसमें कोई संशय नहीं है। पर केवल यह जान लेने या देख लेने मात्र से जीव उस साक्षी में लय या एक नहीं हो जाता है। यदि कहो कि वह लय हो गया है, तो उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता है कि मैं अमुक हूँ अर्थात् साक्षी हूँ-जब तक साक्षी स्वरूप रहता है, तब तक अपने को वह नहीं जान सकता है कि “मैं साक्षी हूँ”। केवल राजा के दर्शन मात्र से भिखारी राजा नहीं बन जाता है, पर जब वह राजा बन जाता है, तब उसे यह घोषणा करने की क्या जरूरत है कि “मैं राजा हूँ” वह तो सर्वविदित है ही। जब तक यह कहने या ध्याने की जरूरत है कि “अहंब्रह्मास्मि” तब तक वह नहीं बना है। यदि वह साक्षी ही नहीं बन पाया है, तो ब्रह्म जो कि अखण्डित पूर्ण है, कब बन सकता है व कैसे ? अतः नहीं बन सकता है। भिखारी राजदर्शन से राजा ही नहीं बन सकता है, तो चक्रवर्ती कैसे बनेगा ? इसीप्रकार साक्षी जो कि आकाश से भी सूक्ष्म, त्रिपुटी (दृष्टा-दर्शन-दृश्य) से मुक्त, शाश्वत, शुद्ध, सजग, मुक्त, सत्य, परमात्म, आनन्दमय, चैतन्य है, जब जीव वही नहीं बन पाता है, तो अखण्डित, व्यापक, पूर्ण, ब्रह्म कैसे बनेगा तथा यह कैसे घोषणा करेगा कि “अहंब्रह्मास्मि”।

शिष्य:- यदि ऐसी बात है तो इस महावाक्य में “अहंब्रह्मास्मि” का अहं और ब्रह्म को समान पद पर कैसे बैठाया गया है ? समान अधिकरण में दोनों कैसे स्थित है ? व्याकरणानुसार श्रुति तो जीव व ब्रह्म दोनों को एक ही श्रेणी (**SAME RANK**) में घोषित कर रही है। यह कैसे स्पष्ट किया जा सकता है ?

सद्गुरूः- बेटा! अधिकरण दो प्रकार का होता है, यथा मुख्य एवं बाध समानाधिकरण अर्थात् शर्त से व बेशर्त से समानता व्यक्त करना। यहाँ पर श्रुति बेशर्त अर्थ से नहीं कह रही है।

शिष्य:- यह बेशर्त अर्थ क्या होता है?

सद्गुरूः- जो आकाश घड़े में है, उसकी विशेषताएँ एवं गुण अन्य घड़े में निहित आकाश के समान है, मठाकाश या महाकाश के समान भी है। अतः सब में निहित आकाश एक ही है। इसीप्रकार वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, धूप आदि भी समान है। एक मूर्ति में विद्यमान ईश्वर बाकी मूर्तियों में भी है तथा एक में विद्यमान साक्षी आत्मा, दूसरे में जो साक्षी आत्मा है, उसी के समान है। श्रुति उपर्युक्त समानता की बात नहीं कर रही है। तो जीव-ब्रह्म की समानता की बात बेशर्त नहीं है वरन् शर्त वाली समानता है।

शिष्य:- वह क्या है?

सद्गुरूः- सारी उपाधियों व बाह्य आडम्बरों को हटाकर अधिष्ठान रूप से समानता जताना ही शर्त वाली समानता है।

शिष्य:- गुरूदेव! मुझे समझ में नहीं आया, कृपया स्पष्ट करें।

सद्गुरूः- "अहंब्रह्मास्मि" अर्थात् मिथ्या अहं के त्याग से जो शेष है, उस शुद्ध चैतन्य से ब्रह्म की एकता बनती है। यह अर्थहीन है कि उपाधियों को हटाये बिना, यदि जीव कहे कि आत्मदर्शन मात्र से स्वयं "ब्रह्म बन गया" तो यह निरर्थक है। जब तक वह स्वयं आत्मा में लय नहीं हो जाता है, तब तक वह अपने को ब्रह्म नहीं जान सकता है। भिखारी को पहले अपने भिखारीपने को

छोड़ना पड़ेगा तथा राजा बनकर शासन करना होगा, तभी वह अपने को राजा जानेगा। जैसे कोई देवता बनने की चाह में अपने स्थूल शरीर को गंगा में प्रवाहित कर देता है, तभी “विमान” में बैठकर अपने को देवता मेहसूस करेगा। एकाग्र, समर्पित चित्त से जैसे भक्त स्थूल शरीर त्याग कर भगवान में लीन हो जाता है, तब अपने को भगवान से एकाकार जानता है। इन सभी उदाहरणों में वे अपने पूर्व व्यक्तित्व को बचाये नहीं रख सकते है। अपने को पूर्व के व्यक्ति समझते हुए साथ में श्रेष्ठता का बोध भी नहीं हो सकता है। अतः साधक को पहले अपने सीमित व्यक्तिरूप बोध को त्यागना होगा एवं साक्षी में विलय होना होगा, तभी वह “अहंब्रह्मास्मि” भाव को जान सकेगा। यही इस महावाक्य का लक्ष्यार्थ है। बिना अपने सीमित व्यक्तित्व को खोए कोई भी ब्रह्म नहीं बन सकता है। अतः उपाधियों से युक्त व्यक्ति (**INDIVIDUAL**) जब तक उपाधियों को नहीं छोड़ता है, तब तक ब्रह्म नहीं हो सकता है। यह अनिवार्य है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! चाहे चिदाभास अपनी उपाधि त्याग भी करें, तब भी स्वरूप से परिवर्तनशील जीव कभी भी ब्रह्म हो ही नहीं सकता है।

सद्गुरूः- बेटा! तुमने भृंगी-कीट न्याय के बारे में सुना है ? भृंगी कोई भी एक कीड़े को लाकर मिट्टी का छत्ता बनाकर दबा देता है। समय-समय पर आकर झंकार करके भृंगी उस कीड़े पर डंक मारता रहता है। इससे कीड़ा निरन्तर भृंगी के मारने के तथा डंक के डर से उसी का चिंतन करता रहता है, इससे अन्त में वह निरन्तर सोचते रहने से भृंगी में ही परिणत होकर अपने पूर्व गुणों व आकार को छोड़कर उड़ जाता है। इसीप्रकार निरन्तर ब्रह्म चिंतन

से चिदाभास अपने पूर्व स्वभाव को त्याग कर ब्रह्म ही हो जाता है। इसी को ब्रह्म साक्षात्कार कहते है।

शिष्य:- पर यह इस प्रकरण के लिए दृष्टान्त नहीं बन सकता है। माफ करना! जीव तो परिवर्तनशील, ब्रह्म पर थोंपी गई मिथ्या छाया मात्र है। जब उसका मिथ्यापन गायब होता है, तब वह मिथ्या स्वरूप ही नहीं रहेगा, पूरा ही चिदाभास गया तो कौन ब्रह्म बनेगा?

सद्गुरूः- तुम्हारा यह संदेह कि थोपी गई मिथ्या छाया कैसे सत्य अधिष्ठान में बदल सकती है, आसानी से दूर किया जा सकता है। कैसे मिथ्या सर्प जो सत्य रस्सी पर थोपा गया था, गायब हो जाता है ? कैसे सीपी पर थोंपी गई चाँदी (भ्रम) गायब होकर केवल सीपी ही रहती है ? इसीप्रकार ब्रह्म पर थोपा गया आभास भी ब्रह्म के साथ एक हो जाता है।

शिष्य:- प्रभो! उपर्युक्त दृष्टान्तों में जो आपने बताया वह तो नहीं समंजस लगता है। वे तो निरूपाधिक भ्रम है। जब कि जीव की उपस्थिति तो सोपाधिक भ्रम है, जो कि अंतःकरण (मन) पर थोपा गया आभास है। जब तक मन है, तब तक आभास भी रहेगा। मन तो पूर्व कर्मो से निर्मित है। जब तक पूर्व कर्मो का निराकरण नहीं होता है, तब तक मन, चिदाभास रहेगें ही। जैसे अपना प्रतिबिम्ब जब तक दिखता रहेगा, जब तक सामने दर्पण या स्वच्छ जल रहेगा। इसीप्रकार व्यक्ति (चिदाभास) भी तब तक रहेगा, जब तक मन है, जो कि पूर्व कर्मो के फलस्वरूप बना हुआ है। अब इस आभास का निराकरण कैसे हो सकता है।

सद्‌गुरूः- यह कहना तुम्हारा दुरूस्त है कि जब तक मन है, तब तक आभास है, पर प्रतिबिम्ब तब गायब होता है, जब सामने रखे दर्पण हटा दिये जाएँ। इसीप्रकार ध्यान द्वारा मन को निःस्तब्ध बनाने पर आभास गायब हो जाता है।

शिष्य:- यदि मन निर्विचार हो जाए, आभास गायब हो जाए, तो वह शून्य बन जायेगा। जब कुछ नहीं रहेगा, तो वह कैसे ब्रह्म बनेगा?

सद्‌गुरूः- जीव एक मिथ्या दिखावा (**APPEARANCE**) है, जो कि अधिष्ठान से अभिन्न है। जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब पृथक नहीं है। अज्ञान या मन के कारण सीमित दिख रहा है, जो कि मन के हट जाने पर आभास तो अधिष्ठान स्वरूप ही हो जाता है, जैसे स्वप्नजीवी।

शिष्य:- वह कैसे?

सद्‌गुरूः- अभी जो जाग्रत में व्यक्ति था, वही सो जाने पर "तैजस" रूप बनकर स्वप्नदृष्टा बनता है तथा स्वप्न देखता है। "तैजस" न तो "विश्व" (जाग्रत व्यक्ति का नाम) से समकक्ष है, न ही भिन्न है। स्वप्नजीवी न तो स्वप्नदृष्टा से एक है, न पृथक है। दृष्टा अपने बिस्तर पर निश्चिन्त प्रसन्न सो रहा है, एक इंच भी हिला नहीं है, पर स्वप्नजीवी बनकर विश्व भ्रमण करके अत्यन्त व्यस्त नजर आता है। क्या घुमक्कड़ स्वप्नजीवी और बिस्तर पर लेटे अचल व्यक्ति दोनों एक है या अलग ? दोनों बांतें सही है, क्योंकि जगने पर वह कहता है कि "स्वप्न में मैं अमुक-अमुक जगह घूमा था, ऐसे-वैसे बहुत काम किये, बहुत खुश था या परेशान था आदि।" अर्थात् स्पष्ट रूप से वह स्वप्नजीवी के भोग के साथ अपनी

तादात्म्यता कर रहा है। उसके अतिरिक्त वहाँ कोई दूसरा भोक्ता भी तो नजर नहीं आता है।

शिष्य:- जाग्रत व्यक्ति से भिन्न पर फिर भी अभिन्न यह स्वप्नजीवी है कौन?

सद्गुरू:- नींद की भ्रमात्मक शक्ति से उत्पन्न स्वप्नजीवी भी एक भ्रम ही है, जैसे रस्सी पर सर्प। जब नींद की जादूशक्ति समाप्त हो जाती है, तब स्वप्नजीवी ऐसे गायब होता है कि जाग्रत व्यक्ति (जो कि उसका अधिष्ठान था) के रूप में उठ जाता है। स्वप्नजीवी उसी जाग्रत व्यक्ति में समा जाता है। इसीप्रकार चिदाभास या जीव न तो ब्रह्म चैतन्य है, न उससे भिन्न ही है। अंतःकरण में माया के कारण अज्ञान से चैतन्याभास बनता है, वह प्रतिबिम्ब ही चंचल, अस्थिर, चिदाभास, जीव रूप में दिखता है। यह थोपा गया मिथ्या प्रतिबिम्ब है। जिस अधिष्ठान पर माया एवं प्रतिबिम्ब दिख रहे है, वे चैतन्य से अलग हो ही नहीं सकते है। बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है।

शिष्य:- वह कौन है?

सद्गुरू:- अज्ञान जनित मन पर समय-समय पर दिखने वाला, सुषुप्ति, बेहोशी में गायब होने वाला यह आभास एक भूत (**PHANTOM**) मात्र है। जब उपाधि (प्रतिबिम्ब का माध्यम) “मन” गायब हो जाता है, तब जीव ही अधिष्ठान “ब्रह्म” बन जाता है। जब तक मन का नाश नहीं होता है, तब तक जीव अपने को “ब्रह्म” नहीं जान सकता है।

शिष्य:- यदि माध्यम या मन के नाश से जीव भी गायब होता है, तो फिर कौन है ? जो कहता है कि “मैं ब्रह्म हूँ”।

सद्गुरू:- जब नींद की अज्ञानमयी जादूशक्ति गायब होती है, तब वह स्वप्नजीवी कहीं खो नहीं जाता है वरन् स्वप्नदृष्टा के रूप में उठ खड़ा होता है। इसीप्रकार मनोनाश से जीव भी ब्रह्म रूप में विराजमान होता है। अतः जब मन का बिना किसी चिह्न के ही सम्पूर्ण नाश होता है, तब जीव निश्चित ही अपने को सच्चिदानंद अद्वैत ब्रह्म के रूप में अनुभव करता है कि “अहंब्रह्मास्मि”।

शिष्य:- जब मन नहीं रहता है, तब वृत्तिहीन स्थिति में सुषुप्ति की तरह होता होगा, तब यह अनुभव “अहंब्रह्मास्मि” का कैसे हो सकता है?

सद्गुरू:- जैसे स्वप्न के अन्त में स्वप्नजीवी जाग्रत व्यक्ति के रूप में जगकर कहता है कि “अब तक कितने समय से मैं सपना देखता रहा कि अमुक-अमुक जगह घूमता रहा पर मैं तो अपने ही बिस्तर पर लेटा रहा।” या कोई दिवाना अपने पागलपन से मुक्त होने पर अपने अन्दर ही अन्दर प्रसन्न होता रहता है या कोई रोगी अपने रोग से छुटकारा पाकर अपने पूर्व कष्टों को सोचकर आश्चर्य करता है अथवा कोई गरीब आदमी राजा बनने के बाद अपनी दीन स्थिति को याद कर हँसता है या उसे भूल ही जाता है या जो आदमी देवता बनने पर अपनी पूर्व स्थिति को भूलकर आनन्द भोगता है या कोई भक्त भगवान से एक होकर प्रसन्न रहता है, इसीप्रकार जीव भी ब्रह्म जानकर आश्चर्य करता है कि कैसे हमेशा ब्रह्म होते हुए भी एक दीनहीन व्यक्ति बनकर काल्पनिक दुनिया में जगत्, ईश्वर, जीवों के मध्य घूम रहा था। अपने से पूछता

है कि उन सब कल्पनाओं का क्या हुआ तथा अब एकाकी, सच्चिदानंद, मुक्त, भेदरहित, बाहर-भीतर के भाव से रहित, शुद्ध-बुद्ध होकर ब्रह्म के उच्च श्रेष्ठ आनन्द में डूबा रहता है। अतः साक्षात्कार संभव है, जीव के लिए, जब पूर्ण मनोनाश हो जाता है अन्यथा नहीं।

शिष्य:- मन जहाँ रहता है, वहीं अनुभव हो सकता है, पर मनोनाश के बाद "अहंब्रह्मास्मि" अनुभव किसको होगा?

सद्गुरूः- तुम यह सही कह रहे हो। मनोनाश दो तरह से होता है- यथा रूप व अरूप। अब तक मैं जो भी बता रहा था, वह रूप वाले मन के नाश से सम्बन्धित था। यदि अरूप मन का नाश हो जाता है, तो कोई भी अनुभव असंभव ही रहता है, जैसे तुम कह रहे हो।

शिष्य:- कृपया दोनों प्रकार के मनों के बारे में तथा उनकें नाश के सम्बन्ध में बताएँ।

सद्गुरूः- जितनी भी वासनाएँ है, वे वृत्तियों द्वारा अभिव्यक्त होती है, इसे ही रूप वाला मन कहते है। वासना नाश को ही रूप वाले मन का नाश कहते है। दूसरी तरफ जब संस्कारों का वध होता है, तब जो समाधि घटित होती है, उस समय नींद की जड़ता नहीं रहती है, विश्व नजर नहीं आता है, पर केवल सच्चिदानंद ही प्रकाशित रहता है, इसे ही अरूप मन कहते है। यदि इस मन का भी नाश हो जाता है तो अनुभव नहीं हो सकता, न ही परमानंद की अनुभूति।

शिष्य:- यह नाश कब होता है?

सद्गुरूः- जब ज्ञानी विदेहमुक्त हो जाता है। जीवनमुक्ति की स्थिति में अरूप मन का नाश नहीं होता है, केवल रूप वाला मन नष्ट होता है। अतः जीवनमुक्ति का आनंद बरकरार रहता है।

शिष्य:- संक्षेप में आत्म साक्षात्कार क्या है?

सद्गुरूः- जो उपाधियुक्त रूप वाला मन है, उसका नाश तथा अरूप मन का शुद्ध मन के रूप में प्राप्त करना, जिसका स्वरूप सत् चित् आनंद ही है तथा यह अनुभूति कि "मैं ब्रह्म ही हूँ" यही जीवनमुक्ति का स्वरूप है।

शिष्य:- क्या इसकी पुष्टि अन्य महापुरुषों द्वारा भी की गई है?

सद्गुरूः- हाँ! श्री आदिशंकराचार्य जी ने कहा है कि "जैसे अज्ञानी अपने सही परिचय कि "मैं ब्रह्म ही हूँ" को न जानते हुए, स्वयं को शरीर ही है, ऐसा मानता है, उसी प्रकार शरीर भ्रम से मुक्त होने के बाद अपने को आत्मा जानते हुए (शरीर के प्रति ध्यान न देते हुए) निःसंशय, निःसंदेह, हमेशा अपने को सच्चिदानंद ही जो दृढ़ता के साथ जानता है, उसे "जीवनमुक्त" कहते है। "आत्मा" में दृढ़ता ही मुक्ति है। ऐसा सभी महापुरुषों का कथन है।

शिष्य:- कौन कहता है व कहाँ पर?

सद्गुरूः- योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ जी ने कहा है कि "जैसे पत्थर में स्थित "मन" वृत्तिहीन, शांत, बिना हलचल के रहता है, उसी प्रकार से बिना वृत्ति, विचार, हलचल के निर्विचार, सजग रहो। परन्तु यह सुषुप्तिवत् न हो या द्वैत विक्षेप न हो, पर शांत रहकर स्वयं में स्थित रहना ही मुक्ति है।

अतः बिना रूप वाले मन को निरस्त किये, “मैं” में स्थित रहकर कैसे यह जाना जा सकता है कि “मैं ब्रह्म हूँ” ? अर्थात् यह संभव नहीं है। संक्षेप में कहा जाए तो व्यक्ति अपने मन को निःस्तब्ध कर अपने व्यक्तित्व को समाप्त करके अपने स्वरूप (जो कि सच्चिदानंद है) में स्थित करके यह जानें कि “मैं ब्रह्म ही हूँ”। इसके विपरित यदि मनन द्वारा हुई अपरोक्ष अनुभूति के आधार पर कोई यह कहे कि “मैं ब्रह्म हूँ” तो यह उतना ही हास्यास्पद है, जैसे गरीब भिखारी द्वारा राजा के दर्शन के बाद यह घोषणा करना कि मैं ही राजा हूँ। यह “अहंब्रह्मास्मि” घोषणा वाणी विलास न होकर स्वयं की अनुभूति होनी चाहिये। यह तभी संभव है, जब वह निःस्तब्धता की सजग स्थिति में असीमित “मैं” में स्थित होता है।

शिष्य:- अच्छा! ठीक है। वह ज्ञानी जो ब्रह्म में निःसंशय, अचल होकर निरन्तर स्थित है किस प्रकार रहता है?

सद्गुरू:- हमेशा अपने सच्चिदानंद, अद्वैत, पूर्ण, कैवल्य, अद्वितीय ब्रह्म में रहते हुए वर्तमान में जो प्रारब्ध के फलस्वरूप प्राप्त अनुभवों से गुजरते हुए अडिग, संतुलित रहता है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” के अनुसार वह तो ब्रह्म ही है। वह किसप्रकार पूर्वकृत कर्म फलानुसार वर्तमान में प्राप्त अनुभवों व घटनाओं से गुजरने के लिए मजबूर है?

सद्गुरू:- उस ज्ञानी के लिए जो कि निःसंशय, दृढ़तापूर्वक अपने स्वरूप में स्थित है, कोई पूर्वकर्म नहीं है। अतः न कोई फल है, न अनुभव, न भुगतना ही है। चूंकि उसमें वृत्ति न रहने के कारण त्रिपुटी (अनुभवकर्ता-अनुभव-

अनुभव के विषय) भी नहीं रहती है। अतः स्वरूप स्थिति में कोई पूर्वकर्म नहीं रहता है। वह न अपने को कर्ता जानता है, न भोक्ता ही। उसके लिए ये सब कुछ नहीं है।

शिष्य:- ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता है कि पूर्वकर्म अपने आप ही उस पर (शरीर-मन पर) अपना फल थोप रहा है?

सद्गुरू:- प्रश्नकर्ता कौन है ? ज्ञानी के कर्मफल भोक्तृत्व का प्रश्न कौन उठा रहा है ? वह ज्ञानी नहीं हो सकता है। प्रश्नकर्ता तो भ्रमित ही हो सकता है। ज्ञानी के लिए कोई संशय तथा प्रश्न नहीं है।

शिष्य:- ऐसा क्यों?

सद्गुरू:- कोई भी कुछ भी अनुभव करता है, कर्ता मानता है या भोक्ता मानता है तो वह भ्रम में है। विषय की उपस्थिति में ही अनुभव होता है। विषय या पदार्थो की उपस्थिति ही भ्रम है। मिथ्या पदार्थो द्वारा मिथ्या अनुभव जो होता है, वह जिसके द्वारा कर्तापन, भोक्तापन से भोगा जा रहा है, वह भी मिथ्या ही है। वास्तव में कोई द्वैत नहीं है। ब्रह्म में नामरूप नहीं है। भ्रम से, अज्ञान से नामरूप ब्रह्म पर थोपे जा रहे है। यदि कोई यह मानता है कि मैं प्रारब्ध का भोग कर रहा हूँ तो वह अज्ञानी ही है, ज्ञानी नहीं। जब वह साधक अवस्था में ही पदार्थो के मिथ्या स्वरूप को जान लेता है, अज्ञान से नामरूपात्मक प्रपंच दिख रहा है, सबकुछ निराकार आकाशवत् है तथा ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा स्थित है, सबकुछ ब्रह्म ही है। तो कौन किसका भोग करेगा ? कोई नहीं तथा कुछ भी नहीं भोगा जाता है। अतः ज्ञानी के लिए कुछ पूर्वकृत कर्म नहीं, वर्तमान भोग नहीं, कोई क्रियाकलाप नहीं, घटनाएँ नहीं है।

शिष्य:- परन्तु अपनी दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि वह ज्ञानी भी प्रारब्धफल से मुक्त नहीं है। ज्ञानी भी सामान्य अज्ञानी के समान उन भोगों से गुजरते हुए, कराहते हुए, सुखी-दुःखी होते हुए नजर आते है। इसका कैसे खुलासा कर सकते है?

सद्गुरू:- ज्ञानी की अपनी दृष्टि में कोई पूर्वकर्म, प्रारब्ध, भोग या क्रियाकलाप कुछ भी नहीं है। तुम्हारी दृष्टि में है कि वह भोग रहा है।

शिष्य:- फिर उसकी दृष्टि कया है?

सद्गुरू:- उसकी दृष्टि में तो एक शुद्ध, अलिप्त, चिदाकाश, परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

शिष्य:- परन्तु, ज्ञानी को भी दुःख-कष्टों से, अनुभवों से गुजरते हुए देखा जाता है?

सद्गुरू:- केवल अन्य लोग उसे ऐसा देखते है, पर वह इसके प्रति होश नहीं रखता है। अपने स्वरूप में मस्त रहता है।

शिष्य:- क्या यह दृष्टिकोण अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में या महापुरुषों द्वारा सही सुनिश्चित किया गया है?

सद्गुरू:- हाँ! अवश्य। आदिशंकराचार्य की कृति “विवेक चूड़ामणि” में कहा गया है कि “अपरोक्ष अनुभूति के उदय के साथ ही अज्ञान अपने दलबल समेत नौ दो ग्यारह हो जाता है।” अतः ज्ञानी भोक्ता नहीं रह सकता है, परन्तु अज्ञानी लोग आश्चर्य करते है कि ज्ञानी किसप्रकार इस शरीर में निवास कर रहा है तथा सामान्य जन सरीखे व्यवहार कर रहा है ? उनके प्रश्न व संशय के

समाधान हेतु शास्त्रों में उल्लेख है कि ज्ञान के बाद भी प्रारब्ध भोग रहने से उसे लेश अविद्या कह सकते है। ज्ञानी के लिए लेशाविद्या शेष रहती है। पर यह अज्ञानियों को समझाने की बातें है, ज्ञानी की दृष्टि में या ज्ञानी के लिए यह बात नहीं कही गई है। इसप्रकार शंकराचार्य जी खुलासा करते है।

शिष्य:- यदि ज्ञानी सचमुच भोक्ता नहीं है, तो दूसरों को क्यों ऐसा लगता है कि वह भोक्ता है?

सद्गुरू:- यह तो दूसरों के अज्ञान के कारण ऐसा लगता है कि ज्ञानी भोक्ता है।

शिष्य:- क्या ऐसा हो सकता है?

सद्गुरू:- हाँ। जरूर। केवल एक चिदाकाश, अद्वैत परब्रह्म ही है, उसमें यह जगत् विभिन्नता व विविधतापूर्ण दिखता है- अनेक व्यक्ति, वस्तु, देश, काल, परिस्थिति, ईश्वर, जीव, नामरूपात्मक, मैं-तू-वह-यह आदि माया के कारण झलकते है। अज्ञानी जीव इन सबको देखकर वैसे ही मोहित व भ्रमित होता है, जैसे ठूंठ में चोर, सीपी में रूपा, रस्सी में साँप, सोने में आभूषण, मिट्टी में बर्तन आदि से व्यक्ति बहक जाता है। परन्तु ज्ञानी ब्रह्माभ्यास द्वारा अज्ञान के नाश से ज्ञान या स्वरूप में स्थित है, प्रारब्ध भोग, सांसारिक घटनाओं तथा अन्य कार्यकलापों से बेफिक्र, निश्चिन्त होकर चिदाकाश में लीन रहता है। वह चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं समझता है, उसी में स्थित रहता है। परन्तु दूसरे लोग उसी शरीरधारी, अपने ही समान कार्य करने वाला, भोगने वाला मान लेते है, यह अज्ञानियों की दृष्टि है। परन्तु वह हमेशा ही अकर्ता, अभोक्ता, शुद्ध, निःसंग, अलिप्त, चिदाकाश ही है।

शिष्यः- क्या आप कृपा करके इसे दृष्टान्त के साथ समझा सकते है कि किस तरह ज्ञानी स्वयं निष्क्रिय रहते हुए बाह्य रूप से क्रियाशील रहता है तथा दूसरों को सक्रिय दिखाई पड़ता है?

सद्गुरूः- हाँ! जैसे मान लो, दो मित्र पास-पास एक कमरे में सोये है, एक सुषुप्ति में लीन है, जब कि दूसरा मित्र स्वप्न देखता है कि वह अपने मित्र के साथ देश-विदेश भ्रमण कर रहा है। जो मित्र सुषुप्ति में लीन है, उसे यह मित्र सक्रिय देख रहा है, अपने स्वप्न में। इसीप्रकार यद्यपि ज्ञानी निष्क्रिय होकर आनंदमय चिदाकाश में लीन है तथापि अज्ञानियों की दृष्टि में सक्रिय नजर आता है, वे लोग तो नामरूपात्मक जंजाल में जकड़े हुए है तथा उन पर द्वैत का चश्मा चढ़ा हुआ है। उसके द्वारा देखने पर निष्क्रिय भी सक्रिय दिखाई देता है। इससे तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि ब्रह्मज्ञानी यद्यपि कोई कार्य नहीं करता है, फिर भी दूसरों को वह कार्य में व्यस्त प्रतीत होता है।

शिष्यः- गुरूदेव! क्या ऐसा हो सकता है कि अनुभव व घटनाएँ ज्ञानी के समक्ष हो पर उसकी दृष्टि में भ्रमात्मक ही रहता हो, क्योंकि ज्ञान द्वारा संचित व आगामी कर्म तो जल जाते है पर जो वर्तमान में भोग के लिए प्रारब्ध बनकर आया है, जो तीर धनुष से छूट गया है वह कैसे पूरा होगा, जब तक प्रारब्ध मौजूद है, तब तक ज्ञानी की दृष्टि से भी क्रिया, घटनाएँ, घटते ही रहेगी, चाहे वे भ्रमात्मक ही क्यों न हो?

सद्गुरूः- यह संभव नहीं है। गलत है। यह बताओं कि किस स्थिति में ये तीनों कर्म (संचित, प्रारब्ध और आगामी) मौजूद रहते है ? क्या ज्ञान में या अज्ञान की स्थिति में, बताओं। भ्रम व अज्ञान के कारण उन कर्मो का एहसास

होता है। यदि किसी व्यक्ति की तीन पत्नियाँ है तथा वह मर जाएँ तो क्या एक सधवा, दो विधवा होकर रह सकती है ? ज्ञान के बाद तीनों कर्म समाप्त हो जाते है क्योंकि कर्ता का अभाव है। हमेशा सजग, पारमार्थिक, चैतन्य में स्थित रहने वाले के लिए यह भोग-कर्मफल आदि कैसे प्रभावित करेगें ? क्या स्वप्नभ्रम जगने के बाद आकर परेशान कर सकता है ? अतः ज्ञानी के लिए कर्म अनुभव, भोग आदि कुछ नहीं है। वह तो नामरूपात्मक जगत् के प्रति उदासीन (**UNAWARE**) परन्तु स्वरूप के प्रति सजग रहता है। एक ही अद्वैत, अखण्डित, अद्वितीय, ठोस, वृत्तिहीन, चिदाकाश ही है, इसके अलावा कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में रहते हुए ज्ञानी मस्त रहता है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! उपनिषद में पूर्वकर्म सम्बन्धी वक्तव्य है कि "जब तक ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म शेष रहता है, तब तक वह विदेहमुक्त नहीं हो सकता है तथा सारे कर्म पूर्ववत् उसके लिए रहते है?

सद्गुरूः- तुम गलत कह रहे हो। उपनिषद का आशय ऐसा नहीं है। यह साधक के लिए बताया गया है कि कर्म, फल, भोग, विश्व सब सांख्य मार्ग के साधक के लिए स्वप्नवत् मिथ्या लगता है, जो ज्ञानोदय पश्चात् गायब ही हो जाते है। साधक इस मार्ग पर निम्नानुसार अभ्यास करता हैः- "मैं साक्षी हूँ। विश्व की क्रियाएँ, दृष्यादि सब मेरे द्वारा देखा व जाना जा रहा है। मैं चैतन्य हूँ ये सब जड़ात्मक है, केवल ब्रह्म चैतन्य ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है।" इसप्रकार के अभ्यास की समाप्ति स्वरूप स्थिति में होती है कि सब नामरूपात्मक जगत् जड़ है, मायामय है, स्वप्नवत् है, जिसका न भूत, न भविष्यत, न वर्तमान काल ही है। अतः ज्ञानी के लिए सब गायब हो जाते है।

अब दृश्य न रहने पर दृष्टा भी समाप्त हो जाता है। साक्षी ब्रह्म चैतन्य में लय हो जाता है, केवल आत्मा ही शेष रहती है, जो कि ब्रह्म ही है। अतः जो प्रबुद्ध जीवनमुक्त है, उनकी दृष्टि में कोई कर्म या जगत् व्यापार नहीं रह सकता है, केवल ब्रह्म ही होकर रहता है।

शिष्यः- तो फिर श्रुति इस सम्बन्ध में प्रारब्ध कर्म का उल्लेख क्यों करती है?

सद्गुरूः- वह ज्ञानी से सम्बन्धित नहीं है। साधकों से मतलब है।

शिष्यः- कैसा साधक?

सद्गुरूः- जो अभी अज्ञान में है, उस साधक के लिए है।

शिष्यः- ऐसा क्यों?

सद्गुरूः- यह इसलिए कहा गया है कि जब अज्ञानी भ्रम के कारण ज्ञानी को कार्य करते हुए देखता है, तब मोहित हो जाता है। जब कि ज्ञानी की दृष्टि में कोई कर्म या भोग नहीं है। पर जितना भी अज्ञानी को समझाएँ कि ज्ञानी निष्क्रिय है, कर्म करते हुए दिखता है पर करता कुछ नहीं है, फिर भी अज्ञानी स्वीकारता नहीं है व लगातार ज्ञानी पर संशय करता रहता है कि यह कैसे संभव हो सकता है कि ज्ञानी के लिए भोग नहीं है ? प्रत्यक्ष नजर जब आ रहा है कि वह सक्रिय है, सुखी-दुःखी लग रहा है, भूखा-प्यासा, परेशान, स्वस्थ या रोगी, भुगतना, गुजरना आदि होने पर भी वह अकर्ता कैसे ? इसप्रकार के निरन्तर संशय में डूबे हुए अज्ञानी की सांत्वना के लिए श्रुति भगवती दयावश कहती है कि ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म शेष रहता है तथा उससे उसे गुजरना ही

पड़ता है, उसका सुखी-दुःखी होना भी लेश अविद्या की वजह से है परन्तु श्रुति ज्ञानी को संबोधित करके नहीं कह रही है कि "तुम्हारा प्रारब्ध शेष है।" अतः वह ज्ञानी की दृष्टि से नहीं कह रही है कि शेष प्रारब्ध है परन्तु अज्ञानियों के लिए कह रही है।

शिष्य:- अच्छा! एक संदेह सता रहा है, गुरूदेव! स्वरूप स्थिति तो वह होती है, जब व्यक्तित्व का पूरा नाश हो जाता है पर कौन अपने व्यक्तित्व का त्याग, बलिदान देने को तत्पर होगा?

सद्गुरूः- बेटा! आवागमन के चक्र को, भवसागर को पार कर, शुद्ध, शाश्वत चैतन्य में स्थिति पाने की प्रबल, तीव्र, गहरी आकांक्षा, प्रखर मुमुक्षुता के कारण कोई भी ऐसा लाचार, त्रासित व्यक्ति इस अमूल्य स्थिति को प्राप्त करने के बदले में अपने क्षुद्र व्यक्तित्व का बलिदान करने को तैयार हो सकता है। देवता बनने की प्रबल इच्छा वाला व्यक्ति सहर्ष अपने शरीर को गंगा में समर्पित कर रथ में सूक्ष्म शरीर से बैठ जाता है। इसीप्रकार मुमुक्षु भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अभ्यास करके अपने व्यक्तित्व का त्याग करके ब्रह्म स्थिति में आ जाता है।

यहाँ पर आत्म साक्षात्कार का अध्याय समाप्त होता है। जो इस अध्याय को ध्यानपूर्वक सावधानी से पढ़ता, समझता व अभ्यास करता है, वह अपने मन को उसकी सीमित उपाधियों सहित जला ड़ालता है, जिससे उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समाप्त हो जाती है तथा शेष जीवन ब्रह्म में ब्रह्म बनकर ब्रह्म ही होकर रहता है।

.

-:अध्याय आठ - मनोनाश:-

पूर्व अध्यायों में अद्वैत ब्रह्म के साक्षात्कार सम्बन्धी ज्ञान देने के पश्चात् सद्गुरू दृढ़ उपरोक्त स्वरूप स्थिति के लिए अतिअनिवार्य रूप से आवश्यक "मनोनाश" के बारे में शिष्य को समझा रहे है।

सद्गुरू:- मेरे प्रज्ञावान् पुत्र! व्यक्तित्व के भ्रम को उत्पन्न करने वाली सीमित उपाधि रूप इस मन का त्याग कर दो। इस व्यक्तित्व के भ्रम के कारण ही वह आवागमन के चक्र में फँसा है तथा स्वयं को ब्रह्मरूप से जान नहीं पा रहा है।

शिष्य:- परन्तु मेरे सद्गुरू! इस मन का नाश कैसे संभव है? क्या यह अत्यंत कठिन नहीं है ? क्या यह मन अत्यंत चंचल, अस्थिर पर बलवान नहीं है ? समझ में नहीं आ रहा है कि इस मन का किस प्रकार अन्त करें?

सद्गुरू:- बेटा। मन को त्यागना अत्यंत सरल है। जैसे किसी फूल को हाथ से मसला जाता है या मक्खन में से बाल निकाला जाता है या आँखों की पलकों को झपकाया जाता है। तुम मेरे कहने पर बिल्कुल संशय, मत करो। जो संयतेंद्रिय दृढ़ निश्चयी मुमुक्षु है, जो इन्द्रियों के झांसे में नहीं आता है, जो तीव्र वैराग्य व विरक्ति के फलस्वरूप बाह्य विषयों के प्रति पूर्ण उदासीन है, उसके लिए तो मन को त्यागना बहुत सुलभ, सरल है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव। यह इतना सरल कैसे हो सकता है?

सद्गुरू:- (मुस्कुराते हुए) बेटा। प्रश्न मनोनाश का तब उठना है या कठिनता की बात तब उठती है, यदि "मन" नामक वस्तु हो जिसे त्याग सके।

अतः वास्तव में “मन” नहीं है। जब अज्ञानी शिशु को बताया जाता है, “वहाँ पर भूत है” तो वह भ्रमित होता है व इस बात को विश्वास कर लेता है कि अनहुए भूत का अस्तित्व सत्य है। इससे उसे भय घबराहट होने लगता है। इसीप्रकार शुद्ध ब्रह्म में एक मिथ्या “छाया” (**ENTITY**) जिसे “मन” कहते है उठती है, जो बिल्कुल वास्तविक जैसी लगने लगती है। जो वस्तुएँ है ही नहीं है, उन्हें कल्पना से नामरूप देती रहती है, ऐसी-वैसी क्रियाएँ करने लगती है। वश मे न आने वाली बलवान् लगने वाली यह मन रूपी छाया जीतने के लिए कठिन दिखाई देती है। परन्तु जो संयमित, विवेकी साधक जो मन का स्वभाव जानता है, वह उसे आसानी से वश में कर सकता है। केवल वही मूर्ख अज्ञानी जो उसका स्वभाव नहीं जानता है। कहता है कि उसे वश में करना कठिन है।

शिष्यः- अच्छा! इस मन का स्वभाव क्या है?

सद्गुरूः- हमेशा यह-वह का चिन्तन करते रहना, संकल्प-विकल्प सोच-विचार करना, यही मन का स्वभाव है। मन विचारों व संस्कारों से बना है। यदि विचार नहीं रहे तो मन नामक चीज ही नहीं रहेगी। जब सारे विचारों से मन रिक्त हो जाता है, तब उसका अस्तित्व ही नहीं रहता है जैसे खरगोश का सींग। वह तो निर्विचार सजग स्थिति में ऐसा गायब हो जाएगा जैसे था ही नहीं, जैसे बांझ का पुत्र या आकाश कुसुम। इसके बारे में ऐसे ही योगवाशिष्ठ में उल्लेख है।

शिष्यः- वह कैसे?

सद्गुरूः- वशिष्ठजी श्रीराम से कहते है कि “हे राम ! सुनो। “मन” के सम्बन्ध में कुछ भी बात करने लायक नहीं है। जिसप्रकार आकाश निराकार

रहता है, उसीप्रकार यह मन भी शून्य जड़ात्मक छाया के रूप में रहता है। केवल “मन” नाम मात्र है, इसका कोई रूप नहीं है। न तो यह बाहर कहीं है या न हृदय देश में ही हो सकता है। फिर भी आकाश के समान यह मन सर्वत्र निराकार ही भर रखा है।

शिष्य:- परन्तु यह कैसे हो सकता है?

सद्गुरू:- जहाँ कही भी यह-वह का विचार उठता है। मन की उपस्थिति भांपी जाती है। विचार न हो तो “मन” का पता ही नहीं पड़ता है, अतः “मन ही विचार है”। जैसे मिट्टी ही घड़ा है, घडा ही मिट्टी है।

शिष्य:- अच्छा। तो यह विचार (संकल्प-विकल्प) क्या है?

सद्गुरू:- यह केवल कल्पना है। निर्विचार स्थिति तो शिव स्वरूप है। विचार दो प्रकार के है। अनुभव किए गए को स्मृति में लाना तथा जो अनुभव नहीं किया है, उसके बारे में सोचना।

शिष्य:- प्रारम्भ में कृपया यह बताएं कि यह संकल्प-विकल्प क्या है?

सद्गुरू:- ज्ञानी पुरुष कहते है कि केवल किसी बाह्य वस्तु के बारे में यह-वह है-नहीं, ऐसा-वैसा के रूप में सोचना यही वह संकल्प-विकल्प है।

शिष्य:- आपने कहा कि अनुभव किए हुए व न अनुभव किए हुए को स्मरण करना, यह कैसे विभाजन है?

सद्गुरू:- जैसे इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) जिसे अनुभव किया है। जैसे मैने देखा, सुना, छुआ आदि तथा उन्हीं के बारे में स्मरण

करना, को अनुभव किए हुई की स्मृति कहते है। जिसका अभी अनुभव नहीं किया है, उन विषयों के स्मरण को ही दूसरा विभाजन समझो।

शिष्य:- यह तो समझ में आता है कि जिन विषयों के भोग का अनुभव हुआ है, उसके बारे में विचार उठना स्वाभाविक है परन्तु जिन विषयों का भोग नहीं हुआ है, अनुभव में नहीं आया है, उनका स्मरण कैसे हो ? जिनका अनुभव नहीं हुआ है, उनके बारे में विचार का उठना तो असंभव है। तब कैसे कहा जा सकता है कि जिनका अनुभव कभी हुआ ही नहीं है, वह भी विचार में आता है?

सद्गुरू:- हाँ! यह संभव है। जिनका अनुभव नहीं हुआ है, उनके बारे में सोचना भी विचार कहलाता है, सोचने के पश्चात् ही उन अन-अनुभवों के विचार उजागर होते है।

शिष्य:- समझ नहीं पाया। विचार के दायरे में अन-अनुभव की चीजें कैसे आ सकती है?

सद्गुरू:- अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा। सभी मानसिक कल्पनाएँ चाहे अनुभव किए गए हो या नहीं, सब विचार के साकार रूप है (**THOUGHT FORM**) ।

शिष्य:- इस अन्वय-व्यतिरेक पद्धति को यहाँ कैसे प्रयोग करते है?

सद्गुरू:- जो भी मन में विचार उठते है, चाहे उनका अस्तित्व हो, चाहे न हो, पहले चाहे अनुभव में आए हो या न आए हो, कैसे भी उसके बारे में सोचा जाए, कुछ भी सोचा जाए, उसका अनुमान लगाया जा सकता है

(**APPREHENDED**)। केवल विचारमात्र से उसके बारे में अनुमान लगा सकते है, इसे अन्वय कहते है।

दूसरी ओर सत्य हो या मिथ्या, अनुभव में आया हो या नहीं आया हो, कैसे भी, कुछ भी, जिसके बारे में सोचा नहीं गया, उसका अनुमान (**APPREHENSION**) नहीं हो सकता है, इसे ही व्यतिरेक कहते है। निष्कर्ष यह निकलता है कि विचार ही अनुमान है, (**THOUGHT IS APPREHENSION**)।

शिष्य:- यह कैसे हो सकता है कि किसी का विचार ही उसका अनुमान है। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण किया हुआ पदार्थ या स्मृति से पूर्वानुभव का विचार तो साकार रूप बन सकता है पर जिसके बारे में सुना नहीं, देखा नहीं, तो केवल विचार द्वारा उसका अनुमान कैसे लगा सकते है ? अतः युक्तियुक्त निष्कर्ष यह निकलता है कि विचार अनुमान नहीं हो सकता है।

सद्‌गुरूः- तुम सही नहीं कह रहे हो। कैसे यह कहते हो कि जो प्रत्यक्ष इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया गया है, उसका अनुमान नहीं हो सकता है ? अभी स्वर्गसुख अनुभव नहीं किया है, पर सबके मन में उसका स्पष्ट चित्रण है या उन शास्त्रों के पढ़ने व सुनने से स्वर्ग के वर्णन के बारे में सोचने से उत्पन्न विचार है। यद्यपि हमने उसका अनुभव नहीं किया है तथापि हमें बिना अनुभव के सुखद अनुभव जैसे लगते है।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! जिनका अनुभव हुआ है, उनके बारे में सोचा जा सकता है (**COGNITION**)। पर बिना अनुभव के विचार तो बन सकते है, पर स्पष्ट रूप से पहिचाना नहीं जा सकता है।

सद्गुरूः- अब सुनों। अनुभव किये हुए व अन-अनुभव के विषय भी पहिचान में आ सकते है। दूसरों से सुनकर कि मेरूपर्वत खालिस स्वर्ण से बना है, अनुभव के बिना भी कल्पना हो जाती है। आँखें व कान बन्द करके भी, दृश्य व शब्द के बारे में सोचा व पहिचाना जा सकता है। अन्धेरे में बैठे हुए भी किसी विषय के बारे में सोचा व पहिचाना जा सकता है। जो अंधे व बहरे है, वे भी रूप व शब्द को सोच-विचार द्वारा पहिचान लेते है। अतः जिनके बारे में जानकारी हो या न हो, विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है।

शिष्य:- फिर व्यतिरेक क्या है?

सद्गुरूः- मन की अनुपस्थिति में जैसे बेहोशी, सुषुप्ति या मूर्छा (**COMA**) में कोई विचार नहीं है। अतः कुछ नहीं दिखाई या सुनाई देता है। केवल इन्हीं स्थितियों में नहीं बल्कि जब जाग्रत में भी यदि कोई विचार नहीं करता है, तो भी निर्विचार की स्थिति में विश्व का पता नहीं चलता है।

जैसे कोई व्यक्ति एकाग्र होकर कुछ कर रहा है, तब कोई बुलाए या बात करे तो वह प्रतिक्रिया नहीं करता है, पर बाद में कहता है कि मैं ध्यानपूर्वक कुछ कर रहा था, मैंनें सुना नहीं, मैंनें देखा नहीं, मेरा ध्यान वहाँ नहीं था आदि। अतः बिना अवधान (**ATTENTION**) के वस्तुओं की पहिचान नहीं हो सकती है। जैसे मान लो इन्द्रियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में ही विषय रहे, पर उस ओर ध्यान नहीं हो तो पता नहीं पड़ता है। कंठमाला गले के सम्पर्क में है, पर पहनने वाले का ध्यान वहाँ न होने से माला की उपस्थिति का उसे पता नहीं पड़ता है, इसतरह पता न पड़ने पर वह सोचती है कि कंठमाला खो गई

है और खोज करने लग जाती है। इसप्रकार अवधान के अभाव में, शरीर के सम्पर्क में रहने पर भी वह उसे खोई हुई ही मानती है।

इसीप्रकार एक रोगी जो दर्द से कराह रहा है, उसके ध्यान को दूसरी ओर आकर्षित करके दर्द को भुला सकते है। दुःख से पीड़ित व्यक्ति का ध्यान उसकी रूचि के विषय पर ध्यानाकर्षित करके दुःख को भुला सकते है।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि अनुभव किये हुए या न किये हुए की पहिचान व अनुमान सब विचार ही है। अतः वेदान्त शास्त्रों में विषयों की इन्द्रियग्राह्यता (**PERCEPTION**) को ही अनेक नाम दिए गए है। यथा संकल्प, विचार, वृत्ति, बुद्धिग्राह्यता, संस्कार, चिदाभास, हृदयग्रंथि, दृश्य, भ्रम, व्यक्ति, जीव, जगत्, सर्व, ईश्वर आदि। ये सब मन ही है। सब उसी में है।

शिष्य:- कहाँ पर इसप्रकार का उल्लेख है कि यही सबकुछ है बल्कि माया ही सबकुछ बन गई, ऐसा सुनने में आता है?

सद्गुरूः- हाँ! माया ही मन है। इसी के बारे में सबने बात कही है। इस दृश्य सम्बन्धी ज्ञान को ही विभिन्न नामों से कहते है, यथा माया, अविद्या, बंधन, अशुद्धि, अंधकार, अज्ञान, मन, आवागमन का चक्र आदि।

शिष्य:- परन्तु गुरूदेव! अब तक जो आपने विस्तार से समझाया, वह तो ठीक है, पर इसका मनोनाश से क्या सम्बन्ध है?

सद्गुरूः- सुनो वत्स! जो भी "ज्ञान" नाम से अब तक बताया गया है, उसे "मन" ही समझो।

शिष्य:- क्या और किसी महापुरुष द्वारा भी ऐसा कहा गया है?

सद्गुरूः- हाँ! श्रीराम से वशिष्ठजी ने कहा था कि “जो कुछ भी दृश्य ज्ञान अभिव्यक्त हो रहा है, जैसे यह-वह अथवा यह नही-वह नही अथवा किसी अन्य रीति से भी, वह सब “मन” ही जानों।

शिष्य:- यह सब तो ठीक है, परन्तु गुरूदेव मनोनाश कैसे होता है?

सद्गुरूः- बताऊँ! बहुत महत्वपूर्ण एवं अन्तिम साधन है “सब कुछ भूल जाओ।” ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि सोचने से ही यह विश्व दिखता है, निर्विचार में विश्व विचार नहीं उठता है। सोचो मत तो वह विचार उठेगा ही नहीं। जब कुछ भी विचार मन में नहीं उठता है, तब मन ही खो जाता है। इसलिए कह रहा हूँ कि कुछ भी मत सोचो, भूल जाओ सबकुछ। यही मन को वध करने का सबसे बढ़िया उपाय है।

शिष्य:- (चकित होकर) ऐसा किसी अन्य महापुरुषों द्वारा भी कहा गया है?

सद्गुरूः- अवश्य! वशिष्ठजी ने श्रीराम से कहा है कि “सभी प्रकार के विचार यथा अनुभव किये गये, नहीं अनुभव किये गये या अन्यथा, सबको पोंछ डालो। लकड़ी या पत्थर सरीखे विचारों, वृत्तियों, से मुक्त रहो। यही सर्वोत्तम युक्ति है, मनोनाश के लिए।” तब श्रीराम ने कहा “क्या मैं सबकुछ भूल जाऊँ ?” वशिष्ठजी बोले “बिल्कुल सही। यही बात तुम्हें कह रहा हूँ। सबकुछ भूल जाओं, जैसे पत्थर या लकड़ी।” तब राम बोले कि “इसके फलस्वरूप लकड़ी-पत्थर जैसी जड़ता की स्थिति बन जाएगी।” वशिष्ठजी बोले कि “हर्गिज नहीं। हे राम। ये दृश्य सारे भ्रमात्मक मायामय है। भ्रमात्मक दृश्य

को भूलने से तुम उससे स्वतंत्र व मुक्त हो गये। दूसरों की दृष्टि में भले ही तुम जड़, तामसिक, प्रतिक्रिया शून्य रहो पर वह स्थिति तो निर्विचार, सजग, सात्विक स्थिति है। तुम्हारी बुद्धि व विवेक बहुत तेज, स्पष्ट, शुद्ध रहेगें। इसप्रकार लौकिक जीवन में न उलझते हुए पर दूसरों की दृष्टि में सक्रिय या निष्क्रिय नजर आते हुए ब्रह्मानंद में आनंद ही बनकर प्रसन्न रहो।" जैसे आकाश में नीलापन को मिथ्या जान लेने के बाद भी पुनः तुम बहक नहीं जाते, वैसे ही चिदाकाश में स्थित रहकर उसमें प्रतीयमान भासित विश्वरूपी नीलापन फिर भ्रमित नहीं करे, ऐसे सावधान रहो तथा शनै-शनै तुम दृढ़ हो जाओगें। अतः इस भ्रम को भूल जाना ही एकमात्र मनोनाश का उपाय है, तथा हमेशा स्वयं के स्वरूपानंद में मशगूल रहो। यदि हरि-हर-ब्रह्मा भी प्रत्यक्ष आकर तुम्हें समझाएं तथा ज्ञान दें तब भी इस युक्ति के बिना ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता है। बिना सबकुछ को भूले, स्वयं में दृढ़स्थिति असंभव है।"

अतः हे पुत्र! सभी कुछ यानि इन्द्रियगम्य ज्ञान, मन सम्बन्धी ज्ञान आदि सारे दृश्य जगत को भूल जाओं। क्योंकि मन जो विश्व में विभिन्न विभाजन खण्ड-खण्ड कर रहा है, वह वास्तव में नहीं है। सबकुछ निराकार है। मन ही जीवसृष्टि द्वारा अकेला उत्पन्न करता है, जो कि पूर्णतया मिथ्या है। अतः सबकुछ भूल जाओं।

शिष्यः- परन्तु गुरूदेव! यह तो बहुत कठिन लग रहा है।

सद्गुरूः- बेटा अज्ञानी के लिए कठिन है। जो विरले-विवेकी होते है, उनके लिए बहुत सुलभ व सरल है। कभी किसी के बारे में सोचविचार ही नहीं करना, अनवरत् अखण्डितरूप से ब्रह्म चिन्तन करों। दीर्घकाल तक ऐसा करने

से तुम आसानी से अनात्म को भूल ही जाओगें। वैसे तो बिना कुछ सोचे, निःस्तब्ध रहना कोई इतना कठिन नहीं है। मन में बस विचार उठे नहीं। हमेशा ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य विचार न हो। इसप्रकार विश्वविचार गायब हो जाएगें तथा ब्रह्म विचार ही रहेगा। जब यह भी दृढ़ हो जाता है, तब इसे भी भूलकर बिना किसी विचार के कि "मैं ब्रह्म ही हूँ" आदि, स्वयं ब्रह्म ही बन जाओं, निःशब्द। यह कोई इतना कठिन नहीं है-अभ्यास करों।

अब मेरे प्रज्ञावान पुत्र! मेरे उपदेशों के अनुसार चलो। ब्रह्म के अलावा कुछ भी मत सोचो। इसप्रकार मन का नाश हो जायेगा, अभ्यास के द्वारा सभी कुछ भूलकर शुद्ध ब्रह्म ही बनकर रहोगे।

जो उपर्युक्त उपदेशों को पढ़ता है तथा उसके अनुसार चलता है, वह अतिशीघ्र अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्म ही होकर विराजमान होता है।

ॐ तत् सत्